महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)

Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya

(A Center University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997)

ज्ञान शांति मैत्री

एम.ए. राजनीति विज्ञान

पाठ्यक्रम कोड : एम.ए.पी.एस. – 016

प्रथम सेमेस्टर

पाठ्यचर्या कोड : - 01

पाठ्यचर्या का शीर्षक : प्राचीन भारतीय राजशास्त्र एवं मध्यकालीन भारत का राजनीतिक चिन्तन

दूर शिक्षा निदेशालय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा - 442001 (महाराष्ट्र)

विषय-सूची

प्राक्कथन

विषय-सूची i-iv

प्रथम अध्याय विषय-प्रवेश v-xxii

१. अध्ययन की आवश्यकता और उपयोगिता १-१४

२. शासन का उद्भव २

(i) वैदिक सिद्धान्त ४

(ii) राजा का निर्वाचन ४

(iii) अराजक दशा और मात्स्य न्याय ६

(iv) राजाओं के अधिकारों का विकास ६

(v) राजा का देवत्व ८

(vi) प्रशासन के उद्भव में पाश्चात्य विचारकों के मत ९

(क) दैवी सिद्धान्त (ख) शक्ति या युद्ध का सिद्धान्त ११

(ग) अनुबन्ध का सिद्धान्त (घ) विकास का सिद्धान्त

(vii) निष्कर्ष १४

द्वितीय अध्याय प्राचीन भारतीय राजशास्त्रकार तथा निबन्धकार

भाग (१) प्राचीन भारतीय राजशास्त्रकार १५-७२

१. वैदिक साहित्य १७

(i) वैदिक साहित्य का विस्तार और उसका रचनाकाल १७

(ii) वैदिक साहित्य में राजशास्त्र और प्रशासनिक संस्थायें २०

(iii) शासन का उद्भव २०

(iv) राष्ट्र की भावना और राजतन्त्र एवं प्रजातन्त्र २१

(v) सभा, समिति, मन्त्री और राजकर्मचारी २२

(vi) प्रशासन का रूप २२

२. मनु और याज्ञवल्क्य २३

(i) मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति की रचना का समय २३

(ii) मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति का सामान्य परिचय २३

(iii) शासन का उद्भव और राजा का देवरूप २४

Scanned by CamScanner

(iv) राजा के गुण, कर्तव्य और दिनचर्या २५
(v) राजा का युद्ध धर्म २६
(vi) राजा की निरंकुशता २७
(vii) मन्त्रिपरिषद् २७
(viii) अन्य राजकीय कर्मचारी २७
(ix) शासन-व्यवस्था २८
(x) दुर्ग २८
(xi) न्याय-व्यवस्था २८
(xii) आय के साधन २९
(xiii) राजशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्त ३०
(xiv) युद्ध ३०
३. महाभारत ३०
(i) शासन का उद्भव ३१
(क) दैवी सिद्धान्त (ख) अनुबन्ध का का सिद्धान्त
(ii) राज्य के अवयव ३२
(iii) राजा ३२
(iv) मन्त्रिपरिषद् और राजकर्मचारी ३३
(v) विधि-निर्माण ३४
(vi) कोष ३५
(vii) पुर और जनपद ३५
(viii) अन्तर्राज्य सम्बन्ध ३६
(ix) दूत और गुप्तचर ३६
(x) गणतन्त्र ३७
(xi) न्याय-व्यवस्था ३७
(xii) युद्ध ३७
४. कौटिल्य ३८
(i) कौटिल्य तथा उसके अर्थशास्त्र का परिचय ३९
(ii) शासन का उद्भव ४०
(iii) अर्थशास्त्र की परिभाषा ४०
(iv) राज्य के अंग ४०
(v) राजा ४१
(१) आत्म-सम्पत् (२) राजा के अधिकार
(३) राजा की रक्षा (४) राजा की दिनचर्या
(५) उत्तराधिकार (६) राजप्रासाद
(७) राजा के कर्तव्य

Scanned by CamScanner

(vi) मन्त्रिपरिषद् ४३
(१) मन्त्रिपरिषद् की उपयोगिता
(२) मन्त्रिपरिषद् के सदस्य की योग्यता (३) मन्त्रणा की प्रणाली
(४) सदस्य संख्या (५) मन्त्रियों के वेतन
(vii) प्रमुख अधिकारी और उनके कार्य ४४
(viii) विभिन्न अध्यक्ष ४५
(ix) दूत और गुप्तचर ४६
(x) कोष ४६
(xi) पुर और जनपद ४७
(xii) अन्तर्राज्य सम्बन्ध और पर-राष्ट्रनीति ४७
(xiii) गणतन्त्र ४८
(xiv) न्याय-प्रणाली ४८
(xv) सेना ४९
(xvi) युद्ध ५९
(xvii) कौटिल्य का महत्त्व तथा विशेषतायें ५०
५. कामन्दक ५०
(i) विद्यायें ५०
(१) आन्वीक्षिकी (२) त्रयी (३) वार्ता (४) दण्डनीति
(ii) राज्य की उत्पत्ति ५१
(iii) राज्य ५१
(iv) राजा ५२
(१) राजा के गुण और दुर्गुण (२) राजा के कर्तव्य
(३) राजा की सुरक्षा (४) राजा की दिनचर्या
(५) उत्तराधिकार
(v) मन्त्रिमण्डल ५३
(vi) पुरोहित ५४
(vii) राजा-प्रजा सम्बन्ध ५४
(viii) कर्मचारी ५४
(ix) दूत ५५
(x) चर ५६
(xi) कोष ५६
(xii) न्याय-पद्धति ५७
(xiii) राष्ट्र ५७
(xiv) राष्ट्र के व्यसन ५८
(xv) दुर्ग ५८

Scanned by CamScanner

(xvi) शक्ति ५८
(xvii) सेना ५८
(१) सेना के भेद (२) सेना के अंग
(३) सेना के सेनापति (४) व्यसन
(xviii) षाड्गुण्य ५९
(१) सन्धि (२) विग्रह (३) यान (४) आसन
(५) द्वैधीभाव (६) आश्रय
(xix) उपाय ६०
(१) साम (२) दान (३) भेद (४) दण्ड (५) माया
(६) उपेक्षा (७) इन्द्रजाल
(xx) युद्ध ६२
(१) युद्ध के भेद (२) युद्ध का समय (३) मार्ग
(४) पक्ष (५) कोप (६) सात छत्र (७) वृत्त
(८) आयुध और युद्ध-वाद्य (९) व्यूह-रचना
(xxi) मण्डल सिद्धान्त ६३
(१) प्रथम विभाग (२) द्वितीय विभाग
(xxii) राजमण्डल ६४
६. शुक्र ६४
(i) राज्य का उद्भव ६५
(ii) राज्य ६५
(iii) राजा ६६
(१) राजा के गुण और दुर्गुण (२) राजा के कर्त्तव्य
(३) राजा की दिनचर्या (४) उत्तराधिकार (५) राज्याभिषेक
(iv) मन्त्रि-परिषद् ६७
(१) आवश्यकता (२) संख्या (३) योग्यता (४) कार्यप्रणाली
(v) राजकर्मचारी ६८
(१) योग्यता (२) वंशपरम्परा (३) प्रोन्नति और प्रोत्साहन
(४) संख्या (५) पदच्युति और दण्ड (६) निरीक्षण
(७) स्थानान्तरण (८) वेतन-निर्धारण
(vi) कोष ६९
(१) आय के साधन (२) व्यय के मार्ग
(vii) न्याय-व्यवस्था ७०
(१) स्थानीय न्यायालय
(२) राजा द्वारा स्थापित न्यायालय
(३) न्याय की प्रक्रिया

Scanned by CamScanner

(viii) राष्ट्र ७१
(ix) सेना ७१
(१) सेना (२) सैन्य संगठन (३) सेना के अंग
(x) युद्ध ७२
(xi) दुर्ग ७२
(xii) षाड्गुण्य ७२
(xiii) उपाय ७२

द्वितीय अध्याय प्राचीन भारतीय राजशास्त्रकार तथा निबन्धकार

भाग (२) राजशास्त्रीय निबन्धकार ७३-१०२

१. सोमदेव सूरि ७४
(i) विद्यायें ७५
(ii) राज्य की उत्पत्ति ७५
(iii) राज्य का स्वरूप ७५
(iv) राजा ७६
(१) राजा की नियुक्ति (२) उत्तराधिकार (३) राजा के गुण
(४) राजा के कर्तव्य (५) राजा की सुरक्षा (६) राजा की दिनचर्या
(v) मन्त्री ७७
(१) मन्त्री की आवश्यकता (२) संख्या (३) योग्यता (४) मन्त्रणा
(vi) पदाधिकारी ७९
(vii) दूत ७९
(१) योग्यता (२) भेद (३) कर्तव्य (४) विशेष नियम
(५) अवध्यता
(viii) उभयभोगी प्रणिधि ८०
(ix) चर ८४
(१) वेतन (२) विशेष गुण (३) भेद (४) सूचना का प्रमाणीकरण
(x) न्याय-व्यवस्था ८१
(१) न्यायालय की आवश्यकता (२) न्यायालयों के प्रकार
(३) प्रमाण
(xi) कोष ८२
(१) कोष का महत्त्व और गुण (२) कोषवृद्धि के उपाय
(३) कर लगाने के सिद्धान्त (४) अन्य नियम
(xii) दुर्ग ८३
(xiii) भूभाग ८३
(१) राष्ट्र (२) देश (३) विषय (४) जनपद (५) मण्डल
(६) दरत् (७) निगम

Scanned by CamScanner

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

आर्य जाति के प्रशासनिक तथा राजनीतिक ढांचे का विकास वैदिक सभ्यता के प्रारम्भिक काल में हो चुका था, जिसका कि संकेत वैदिक संहिताओं और उत्तरवैदिक साहित्य से मिला है। सभ्यता के विकास का यह सबसे प्राचीन उपलब्ध साहित्य है। तदनन्तर लिखित शास्त्रीय ग्रन्थों में, जो प्राय: वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत भाषाओं में लिखे गये थे, आर्य जाति के विविध क्रिया-कलापों का सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक, दार्शनिक, प्रशासनिक, आर्थिक आदि गति-विधियों का विस्तृत गहन परिचय मिलता है। इन गति-विधियों में प्रशासनिक एवं राजनीतिक गतिविधियों का बहुत अधिक महत्त्व है, क्योंकि इन्हीं के द्वारा अन्य सभी गतिविधियों का नियमन किया जाता है। प्रशासनिक और राजनीतिक संस्थाओं का विकास भारतवर्ष में संस्कृत शास्त्रों के आधार पर हुआ था। अत: संस्कृत शास्त्रों के माध्यम से इनका अध्ययन करना उपयोगी होगा।

१. अध्ययन की आवश्यकता और उपयोगिता

वैदिक संहिताओं - 'ऋग्वेद', 'यजुर्वेद', 'सामवेद' और 'अथर्ववेद' तथा उनके उत्तरवर्ती साहित्य के अध्ययन से प्राचीन भारत के प्रशासनिक और राजनीतिक ढांचे का परिचय प्राप्त होता है। वैदिक संहिताओं में शासन-व्यवस्था और राजनीति के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण हैं। वैदिक संहिताओं के अनन्तर ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थ, कल्पसूत्र, स्मृति आदि साहित्य अन्य विषयों के साथ प्रशासनिक व्यवस्था और राजनीति के सिद्धान्तों का व्यापक निर्देश देते हैं। 'रामायण', 'महाभारत' और पुराणों में प्रशासन-व्यवस्था के नियमों का विस्तार से कथन और प्रतिपादन किया गया है।

राजशास्त्र (दण्डनीति) विषयक ग्रन्थों की रचना ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी में निश्चित रूप से प्रारम्भ हो गई थी। इनमें सबसे प्राचीन कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' है। तदनतर 'कामन्दकनीतिसार', 'शुक्रनीतिसार', 'नीतिवाक्यामृत', 'लघु-अर्थनीति', 'नीतिकर्णामृत आदि ग्रन्थों की रचना हुई। विशुद्ध रूप से राजशास्त्र (दण्डनीति) पर लिखे गये इन ग्रन्थों में भारतीय राजशास्त्र और प्रशासनिक संस्थाओं के स्वरूप को अधिक विस्तार से तथा उज्ज्वल रूप से प्रस्तुत किया गया।

राजशास्त्र विषयक मौलिक ग्रन्थों की रचना के अनन्तर व्याख्या ग्रन्थों का युग आता है। इनमें 'युक्तिकल्पतरु', 'वीरमित्रोदय', 'राजनीतिरत्नाकर', 'व्यवहारप्रकाश' आदि ग्रन्थ गिने जा सकते हैं। इनमें प्राचीन भारतीय राजशास्त्र, प्रशासनिक संस्थाओं,

Scanned by CamScanner

न्याय-व्यवस्था और सैनिक संगठन के ढांचे का विस्तार से वर्णन है। इस युग के साहित्य में इन संस्थाओं का व्यावहारिक रूप अभिव्यंजित होता है।

प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों से विदित होता है कि उस स्वर्णिम युग में, जबकि भारतीय सभ्यता और संस्कृति अपने इतिहास के सर्वोच्च शिखर पर थी, इसका प्रचार और प्रसार विश्व के अधिकांश भागों में था। भारतीय ऋषियों और मनीषियों ने एक अति उन्नत, प्रभावशाली और लोकहितकारी प्रशासनिक ढांचे का निर्माण किया था। उन्होंने भारतीय राजनीति को जन-जन के लिये कल्याणकारी प्रतिपादित करके देश और समाज के लिये अभ्युदय और नि:श्रेयस का सन्देश प्रदान किया था। आर्य जाति के लिये उन्होंने प्रगति के आदर्श सोपान का निर्माण किया था।

जिस युग में भारतवर्ष में चाणक्य, कामन्दक, बृहस्पति, शुक्र आदि राजशास्त्र प्रणेता आचार्यों का प्रादुर्भाव हुआ, उस समय पश्चिम में प्रोयागोरस, सोक्रेटीज, प्लेटो, अरस्तू, पैथागोरस, सिसरो, सेनेका आदि आचार्य हुये। इन आचार्यों ने राजशास्त्र विषयक सिद्धान्तों का प्रवर्तन किया और प्रशासनिक संस्थाओं को विकसित करने में योगदान किया था। यद्यपि इन प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों के परस्पर सम्पर्क के प्रमाण उपलब्ध नहीं होते, तथापि दोनों वर्गों में कहीं परस्पर सम्पर्क किन्हीं अंशों में अवश्य रहा होगा। दोनों पक्षों का तुलनात्मक अध्ययन इस तथ्य को प्रमाणित करने में समर्थ है। इनके निष्कर्षों में बहुत कुछ समानता और सामंजस्य अवश्य विद्यमान है।

सिकन्दर द्वारा भारतवर्ष पर आक्रमण और चन्द्रगुप्त द्वारा सेल्यूकस पर विजय आदि घटनाओं ने प्राच्य तथा पाश्चात्य विचार-धाराओं को परस्पर सम्पर्क के अवसर निश्चय ही प्रदान किये थे। भारतीय राजाओं की राजसभाओं में रहने वाले यूनानी राजदूत अच्छे लेखक और राजनीति के आचार्य थे।

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र और प्रशासनिक संस्थाओं के विषय को लेकर अनेक विद्वानों ने लेखनी उठाई है। इनमें कुछ लेखकों ने स्वतन्त्र रूप से इस विषय पर लिखा है। अनेक विद्वानों ने अपने विशाल ग्रन्थों में राजशास्त्र विषयक अध्याय सम्पिलित किये हैं। इन विद्वानों में राधाकमल मुकर्जी, राधामुकुद मुकर्जी, भगवतशरण उपाध्याय, पी.वी. काणे, ए.आर. बाशम, आर.डी.बैनर्जी, सत्यकेतु विद्यालंकार, हरिहरनाथ त्रिपाठी, रामजी उपाध्याय, हरिदत्त विद्यालंकार, आर.सी. मजूमदार, रामधारीसिंह दिनकर, के.पी. जायसवाल, ए.एस. अल्तेकर, श्यामलाल पाण्डेय, आर.सी. कुलश्रेष्ठ, विश्वनाथ शर्मा, एच.एन. सिन्हा, प्रियव्रत आचार्य, परमात्माशरण मित्तल, योगेन्द्रनाथ वेदान्ताचार्य रघुवीर शास्त्री आदि के नामों की विशेष गणना की जा सकती है।

परन्तु इस विषय पर अभी बहुत कुछ कहना और स्पष्ट करना शेष रह गया है। इन सब लेखकों का दृष्टिकोण ऐतिहासिक अधिक है, जो कि इतिहास के क्रम से लिखा गया है। प्राचीन संस्कृत शास्त्रीय ग्रन्थों पर उतना अधिक बल नहीं दिया गया। आवश्यकता इस बात की है कि प्राचीन शास्त्रों के आधार पर और इतिहास एवं काव्यों में अभिव्यंजित व्यावहारिक राजनीति के आधार पर प्राचीन भारत के राजशास्त्र और प्रशासनिक संस्थाओं

Scanned by CamScanner

का स्पष्ट और विशाल चित्र प्रस्तुत किया जाये। इन सिद्धान्तों का पाश्चात्य राजनीति-विशारदों के साथ तुलनात्मक रूप प्रस्तुत करना भी उपयोगी होगा। वर्तमान भारतीय संविधान पर पाश्चात्य प्रभाव बहुत अधिक है।

वर्तमान विश्व की राजनीति पूर्व काल की अपेक्षा बहुत कुछ परिवर्तित है। यातायात के साधनों के विकास ने तथा शिक्षा के विस्तार ने विश्व के सभी स्थानों को बहुत समीप ला दिया है। तथापि प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के सिद्धान्त और प्रशासनिक संस्थाओं का संगठनात्मक रूप वर्तमान में भी भारतीय जनता के लिए बहुत उपयोगी है। व्यास, बाल्मीकि, मनु, चाणक्य, शुक्र, बृहस्पति आदि महान् ऋषियों, मनीषियों और विद्वानों के विचार भारत देश को समुन्नत करके विश्व को अग्रणी बनाने में सर्वथा समर्थ हैं।

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र (दण्डनीति) वर्तमान में भी भारतीय प्रशासकों के लिये अति उपयोगी है। प्राचीन आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित अनेक विषय, जैसे कि - जिन देशों की सीमायें परस्पर मिलती हैं, वे स्वाभाविक शत्रु होते हैं, मित्रत्व को प्राप्त हुए शत्रु पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये, राज्य तथा प्रजा की रक्षा के लिए ब्रह्म-क्षत्र की परम आवश्यकता है, राज्य-शासन का प्रथम कर्तव्य प्रजा की रक्षा करना है - आदि वर्तमान समय की भी अनिवार्यता हैं। प्राचीन दण्डनीति की उपेक्षा इस देश के लिए विनाशकारी सिद्ध हो रही है। उसका पुनर्जागरण अनिवार्य है।

अत: यह आवश्यक है कि प्राचीन भारत की प्रशासनिक संस्थाओं के विषय पर, प्राचीन संस्कृत शास्त्रों के संदर्भ को लेकर एक अच्छा प्रबंध लिखा जाये, जिसमें उन प्राचीन शास्त्रों के आधार पर प्राचीन युग की प्रशासनिक संस्थाओं के रूप को विशदता से प्रस्तुत किया जाये। वर्तमान भारतीय राजनीति एवं प्रशासनिक व्यवस्था के संचालन में उसका बहुत अधिक महत्त्व है। इन प्राचीन सिद्धान्तों तथा प्रशासन व्यवस्था का वर्तमान व्यवस्था में योग इस देश को अधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली बनायेगा। इससे देश का शासन और भी अधिक लोककल्याणकारी होगा।

२. शासन का उद्‌भव

भारतवर्ष में शासन के उद्‌भव के विषय में प्राचीन शास्त्रों में विस्तृत विवरण प्राप्त होते हैं। उनका तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है। प्रशासनिक संस्थाओं के और राजनीति के नियमों को समझने में इसका बहुत अधिक महत्त्व है।

(i) वैदिक सिद्धान्त -

प्राचीन वैदिक संहिताओं में शासन के उद्‌भव की वार्ता कही गई है। 'अथर्ववेद' के एक मन्त्र में शासन के उद्‌भव के विकास का विशद संकेत है। इस मन्त्र के अनुसार शासन का उद्‌भव परिवार से हुआ। पहले दशा राजाविहीन थी। इस अवस्था में सब लोग भयभीत रहते थे कि कब कौन सी विपत्ति आ उपस्थित हो। वे सोचते थे कि वे क्या कर सकते हैं ? क्या यही अवस्था सदा बनी रहेगी ? इस अवस्था में एक क्रान्ति का उदय हुआ और इस क्रान्ति ने परिवर्तन उत्पन्न किये। इस क्रान्ति को चार चरणों में विभक्त किया जा सकता है - गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि और आमन्त्रण।

Scanned by CamScanner

सर्वप्रथम परिवारों ने (गृहों ने) परस्पर मिलकर संघटन बनाये। यह अवस्था गार्हपत्य थी। इन गार्हपत्यों (गृहपतियों) के संघटनों में भी क्रान्ति हुई। इससे आहवनीय दशा का विकास हुआ। आहवनीय दशा में परिवारों के प्रमुख परस्पर आवाहन करके देश, जाति और परिवारों की समस्याओं पर विचार करते थे। परिवारों के संघटन के अनन्तर ग्रामों के संघटन बने। इसके अनन्तर पुन: क्रान्ति हुई। इससे दक्षिणाग्नि दशा का विकास हुआ। यह अवस्था जनपद के विकास की सूचक है। 'निरुक्त' के अनुसार अग्नि का अर्थ अग्रणी होता है और दक्षिण का अर्थ चतुर है। इस प्रकार दक्षिणाग्नि का अर्थ है - चतुर अग्रणी नेता। सब ग्रामों के प्रमुख (ग्रामणी) मिलकर दक्षिणाग्नि का चुनाव करते थे। वे पूरे जनपद का शासन करते थे। इसके साथ शासन का संचालन करने के लिये सभा और समिति नाम की दो संस्थाओं का विकास हुआ। ये जनपद की संस्थायें थीं। इन संस्थाओं से आमन्त्रण संस्था का विकास हुआ। सम्भवत: यह सबसे विशाल संस्था थी। इसमें जनपद के सभी लोगों को आमन्त्रित किया जाता था[१]।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि शासन की व्यवस्था का विकास इस क्रम से हुआ

गृहपति (गार्हपत्य)→ ग्रामणी (आहवनीय)→ राजा (दक्षिणाग्नि)→ जनसभा (आमन्त्रण)।

शासन के विकास के सम्बन्ध में 'ऋग्वेद' में वरुण और इन्द्र की कल्पना है। वरुण के कार्यों में राजा के कर्तव्यों का समावेश है। वेदों में इनके जो कार्य कहे गये हैं, वे ही लोक में राजा के कर्तव्य हैं। वरुण के कार्य इस प्रकार हैं -

प्रजा का कल्याण करना, पापियों को नियन्त्रित करना, जनता को विपत्तियों से बचाना, दूर दृष्टि होना, शासन विधान की प्रतिष्ठा करना, जनता की उन्नति करना, समृद्धि को बढ़ाना, पापियों को दण्ड देना, शत्रुओं को दूर भगाना, राजनियमों की रक्षा करना और आन्तरिक शान्ति को बनाये रखना[२]।

इन्द्र युद्ध करने और विजय को प्राप्त कराने वाला देवता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा गया है कि युद्धजन्य परिस्थितियों के कारण इन्द्र का निर्वाचन हुआ था। देव-असुर संग्रामों में देवताओं ने इन्द्र को निर्वाचित करके असुरों पर विजय प्राप्त की थी। देवताओं और असुरों में परस्पर निरन्तर युद्ध होते रहते थे। इन युद्धों में सदा देवताओं की पराजय होती थी। पराजय के कारणों पर विचार करने पर विदित हुआ कि देवताओं का कोई राजा

---

१. विराड् वा इदमग्र आसीत्, तस्या: जाताया: सर्वंमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति। सोदक्रामत्। सा गार्हपत्ये न्यक्रामत्। सोदक्रामत्, साऽऽहवनीये न्यक्रामत्। सोदक्रामत्, सा दक्षिणाग्नौं न्यक्रामत्। यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति, स एवं वेद। सोदक्रामत्। साऽऽमन्त्रणे न्यक्रामत्। यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद।। अथर्ववेद ८.१०.१-१३

प्रशासन के उद्भव से सम्बन्धित इस वैदिक सिद्धान्त की व्याख्या आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति ने अपने सम्मानित ग्रन्थ 'वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त' में विस्तार से की है। उनकी यह उद्भावना प्रथम बार ही लोक के समक्ष प्रस्तुत हुई है।

२. ऋग्वेद १.२५, २.२८, ५.८५

Scanned by CamScanner

नहीं है।, अत: वे युद्धों में हारते हैं। तब देवताओं ने इन्द्र को अपना राजा निर्वाचित किया[१]। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' के अनुसार प्रजापति ने इन्द्र को देवताओं का राजा नियुक्त किया था[२]।

'ऋग्वेद' के मन्त्रों से यह अभिव्यंजित होता है कि राजा का किसी न किसी रूप में निर्वाचन होता है।

ऋग्वैदिक युग में संयुक्त परिवार प्रणाली थी। संयुक्त परिवारों में दादा, पिता, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, चाचा, भाई, भतीजे आदि अनेक पीढ़ियों के लोग एक साथ रहते थे। इससे परिवार के सदस्यों की संख्या बहुत अधिक हो जाती थी। अनेक बार यह संख्या २००-३०० तक भी हो जाती होगी। इन परिवारों को कुल कहते थे। कुल का प्रमुख कुलप होता था। कुछ कुल, जो एक ही परम्परा के होते थे, मिल कर एक ही स्थान पर रहते थे। इस स्थान को ग्राम कहा जाने लगा। ग्राम का मुखिया ग्रामणी कहलाता था। बाह्य शत्रुओं से अपनी रक्षा करने के लिए अनेक ग्रामणी मिल कर अपना एक संघ बना लेते थे। इसको विश कहा गया। विश का मुखिया विशपति कहलाया। अनेक विशों का समुदाय जन था। इसमें एक ही कबीले और जाति के लोग होते थे। जन के नेता को जनपति या राजा नाम दिया गया।

(ii) राजा का निर्वाचन -

वैदिक साहित्य के अनेक वचनों से राजा को निर्वाचित किये जाने के प्रमाण मिलते हैं। राजा का निर्वाचन कुलपों द्वारा किया जाता था। वैदिक युग में युद्धजन्य परिस्थितियों के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। युद्धों में शत्रुओं से अपनी रक्षा के लिये और शत्रुओं को पराजित करने के लिये राजा का निर्वाचन किया जाता रहा। कुलों, ग्रामों, विशों और जन के नेता बाह्य आक्रमणों से अपनी रक्षा के लिये किसी योग्य व्यक्ति को अपना नेता निर्वाचित कर लेते थे। 'ऋग्वेद' के वर्णनों के अनुसार राजा को जनों की रक्षा करने वाला (जनस्य गोप्ता) और शत्रुओं के नगरों को तोड़ने वाला (पुरां भेत्ता) कहा गया है। उसका कर्तव्य है कि वह आन्तरिक और बाह्य आपत्तियों से प्रजा की रक्षा करे और न्याय का वितरण करे। इन कर्तव्यों को पूरा करने के लिये सेना की आवश्यकता थी। अत: राजा सेना को संगठित करता था और स्वयं उसका नियन्त्रण करता था। राजा की इन सेवाओं के लिये जनता राजकीय नियमों का पालन करती थी और राज्य को कर देती थी।

(iii) अराजक दशा और मात्स्य न्याय -

'महाभारत' में वर्णन है कि[३] सृष्टि की उत्पत्ति के अनन्तर बहुत समय तक स्वर्ण युग रहा। उस समय न तो कोई शासन-व्यवस्था थी और न शासक संस्था थी। कोई राजा भी न था। प्रजा धर्म का पालन करती हुई एक दूसरे की रक्षा करती थी। कुछ समय के बाद मोह और अज्ञान ने जन्म लिया। लोभ और स्वार्थ की वृद्धि हुई। मात्स्य न्याय का

---

१. देवासुरा वा एषु, लोकेषु, समयतन्त.....तांस्ततो सुरा अजयन्। देवा अब्रूवन्नराजतया वै नो जयन्ति, राजानं करवामहा इति तथेति। ऐतरेय ब्राह्मण १.१४

२. तैत्तिरीय ब्राह्मण ११.२

३. महाभारत-शान्तिपर्व अध्याय ५८।।

Scanned by CamScanner

प्रादुर्भाव हुआ। बलवान् निर्बलों को खा जाने लगे। जनता ने देवताओं से प्रार्थना की। तब ब्रह्मदेव ने प्रशासन के नियम बना कर विरजस् नामक पुरुष की रचना की। ब्रह्मा ने उसको मनुष्यों का राजा बना दिया।

'महाभारत' की ही एक अन्य कथा के अनुसार, प्रजा द्वारा प्रार्थना करने पर ब्रह्मा ने मनु को निर्देश किया कि वह प्रजा का शासन करे। मनु द्वारा आनाकानी करने पर प्रजा ने कहा कि वह विधि-नियमों का पालन करेगी और शासन का संचालन करने के लिये कर के रूप में धन देगी। पशुओं और स्वर्ण का पांचवां भाग, अन्न का दसवां भाग तथा धर्म का चौथाई भाग वे राजा को देंगे[1]। मनु ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। तदनन्तर मनु ने धर्म के अनुसार शासन करना प्रारम्भ कर दिया।

राज्य-संस्था की इस उत्पत्ति का कौटिल्य ने समर्थन किया है। उसने लिखा है

"मात्स्य न्याय से पीडित प्रजा ने वैवस्वत मनु को अपना राजा बनाया। राजा को अपनी सेवाओं के बदले में धान्य का छठा भाग और पण्य तथा सुवर्ण का दसवां भाग प्राप्त करने की व्यवस्था की गई[2]।

'समरांगणसूत्रधार' के अनुसार ब्रह्मा ने पृथु को पृथिवी का पहला राजा बनाया था। पृथु ने प्रजा से कहा कि वह सब प्रकार के भयों को और आशंकाओं को दूर करके उनकी रक्षा करेगा। स्वधर्म और वर्णाश्रम धर्म को स्थापित करके दण्ड द्वारा सबको सन्मार्ग पर चलाएगा। सारी प्रजा सुखी और समृद्ध होगी[3]।

जैन और बौद्ध साहित्य में भी इस प्रकार के विचार हैं। पहले कोई राजा या शासक नहीं था। कोई शासन-संस्था नहीं थी। किसी वस्तु की कोई कमी नहीं थी। सब सन्तुष्ट और प्रसन्न थे तथा प्रेम से रहते थे। परन्तु वह स्वर्ण युग अधिक समय तक नहीं रहा। वस्तुओं की कमी हुई। दीनता और लोभ की भावनायें जागृत हुईं। नैतिक पतन होने लगा और धर्म का लोप हुआ। त्रस्त प्रजा ने एक स्थान पर एकत्रित होकर योग्यतम व्यक्ति का राजा के रूप में निर्वाचन किया।

'रामायण' और 'महाभारत' में अराजक देशों की दुरवस्था का वर्णन किया गया है। अराजक का अभिप्राय शासन के नेता के अभाव से है। 'रामायण' में कहा गया है कि अराजक जनपद में खेत नहीं बोये जाते, परिवार विशृंखल हो जाते हैं, किसी की सुरक्षा नहीं रहती। अराजक जनपद की अवस्था जल के विना नदी और तृण के विना वन के समान हो जाती है। मछलियों के समान लोग एक दूसरे को खा जाते हैं। राष्ट्र की अवस्था ग्वाले से रहित गौ के समान हो जाती है[4]।

---

१. महाभारत शान्तिपर्व ६७.१७-२८।।

२. मात्स्यन्यायाभिभूता: प्रजा: मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे। धान्यषड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासु:।। अर्थशास्त्र १.९

३. समरांगणसूत्रधार अध्याय - ७ ।८ ४ रामायण अयोध्याकाण्ड अध्याय ४३।।

Scanned by CamScanner

महाभारतकार का कथन है कि अराजक राष्ट्र में मछलियों और पक्षियों के समान सब लोग एक दूसरे को खाने लगते हैं। परिवार टूट जाते हैं। वध, बन्धन और क्लेश छा जाता है। अकाल पड़ते हैं और लोक में दस्यु भर जाते हैं[१]।

ऊपर के विवरणों से यह स्पष्ट है कि मुख्य रूप से आन्तरिक सुशासन तथ युद्धजन्य परिस्थितियों में आर्य सभ्यता में राजा के पद का जन्म हुआ था। आन्तरिक तथा बाह्य उपद्रवों से रक्षा पाने के लिये प्रजा ने राजा की कामना की थी। प्रारम्भ में राजा का निर्वाचन होता था। वह कुलों और ग्रामणियों की सहायता से तथा निर्वाचकों की मन्त्रणा से शासन का संचालन करता था। राजा की मुख्य शक्ति उसकी सेना थी। सैनिक शक्ति से सुसज्जित होने के कारण उसके सामर्थ्य में और स्वेच्छाचारिता में वृद्धि होती गई। परन्तु निर्वाचक तत्त्व तथा उनका प्रभाव भी बने रहे।

वैदिक साहित्य में दोनों प्रकार के शासकीय तत्त्वों के संकेत प्राप्त होते हैं। शक्ति सम्पन्न राजतन्त्रों के साथ-साथ निर्वाचित गणतन्त्र भी उस युग में अवश्य रहे थे। एक ओर यदि मनु, इक्ष्वाकु, निमि, पुरूरवस्, ययाति, भरत, आदिं शक्तिशाली प्रतापी राजाओं के वर्णन मिलते हैं, तो दूसरी ओर राजा से रहित राज्यों का भी विवरण प्राप्त होता है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में हिमालय के समीपवर्ती उत्तरकुरु और उत्तरमद्र राज्यों का वर्णन है। ये दोनों राज्य विराट् (वि+राट् = राजा से रहित) कहलाते थे। अर्थात् यहां स्वेच्छाचारी राजा नहीं थे।

(iv) राजाओं के अधिकारों का विकास -

आन्तरिक उपद्रवों और युद्धजन्य परिस्थितियों ने राजा की संस्था को जन्म दिया था। कुलों और ग्रामों के मुखिया किसी योग्य व्यक्ति को अपना राजा चुन लेते थे। इस पद के लिये वीरता, प्रत्युत्पन्नमतित्व, युद्ध-कौशल, बुद्धिमत्ता, शासन के संचालन की योग्यता आदि गुण अनिवार्य थे। युद्धों में विजय पाने के लिये राजा सेना का संगठन करता था। राजा स्वयं ही सेनापति होता था। अपने गुणों और शक्ति से राजा के अधिकारों में वृद्धि होती गयी। उसको असीमित अधिकार प्राप्त हुये तथा निर्वाचन की शक्ति धीरे-धीरे कम होती गई।

वैदिक शासन पद्धति में जन-सामान्य को राजा के निर्वाचन का अधिकार प्राप्त था या नहीं, इस सम्बन्ध में मतभेद है। परन्तु यह तथ्य निर्विवाद रूप से स्पष्ट है कि 'ऋग्वेद' के युग में राजा को निर्वाचित करने के तत्त्व किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान थे[२]। कौटिल्य ने भी राजा के निर्वाचन के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है[३]। परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय बालिग मताधिकार के आधार पर जनता वर्तमान युग के प्रजातन्त्र के समान राजा का निर्वाचन करती थी। यह भी नहीं कहा जा सकता कि आधुनिक युग की प्रजातन्त्र प्रणाली के अनुसार प्रजा को अपने शासक या शासन-पद्धति को चुनने का अधिकार था। अधिक सम्भावना यही है कि कुलों, ग्रामों, विशों और जनों के मुखिया राजा के निर्वाचन में भाग लेते थे, सामान्य जन नहीं। वंशपरम्परागत राज्याधिकार के भी निश्चित प्रमाण प्राप्त होते हैं।

---

१. महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ६७।। २. ऋग्वेद १०.१२४.८।। ३. अर्थशास्त्र ३.४.२।।

Scanned by CamScanner

'ऋग्वेद' में तृत्सुओं और पुरुओं में अनेक पीढ़ियों तक राजगद्दी की परम्परा के उल्लेख हैं। वैदिकोत्तर साहित्य में राजा के निर्वाचन के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। तथापि राज्याधिकार में वंशपरम्परा का प्रभाव अधिक है।

उत्तरवैदिक युग में सम्भवत: यह परम्परा प्रचलित थी कि राजा अपने उत्तराधिकारी का निर्णय करते समय राजसभा के सदस्यों और प्रजा के प्रतिनिधियों - पौरों और जानपदों की स्वीकृति लेता था। परन्तु यह स्वीकृति औपचारिक ही अधिक थी। राम को उत्तराधिकारी बनाते समय दशरथ ने अनेक राजाओं, सामन्तों, मन्त्रियों, पौरों और जानपदों को बुला कर उनकी स्वीकृति प्राप्त की। परन्तु राम को वनवास देते हुये और भरत को राजगद्दी के अधिकार की स्वीकृति देते हुये उनके मतों का कोई आदर नहीं हुआ। सारी प्रजा द्वारा राम को रोके जाने पर भी वे राम वन की ओर चले गये तथा ननसाल से लौटने पर भरत ने शासन के भार को ग्रहण किया।

'रामायण' के युग में राजा के ज्येष्ठ पुत्र के राज्य-सिंहासन का उत्तराधिकारी होने का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया था। प्रजा के प्रतिनिधियों की स्वीकृति औपचारिक मात्र ही रह गई थी। तथापि राजा से यह आशा की जाती थी कि उसका प्रधान कर्तव्य प्रजा की रक्षा करना, कल्याण करना और रंजन करना है। अनेक प्राचीन कथायें इस आशय की मिलती हैं कि अत्याचारी राजा को राजगद्दी से उतारा जा सकता है।

'महाभारत' की एक कथा के अनुसार ब्रह्मा द्वारा विरजस् को मनुष्यों का पहला राजा बनाया गया। विरजस् के अधिकार असीमित नहीं थे तथा वह स्वेच्छाचारी नहीं था। ब्रह्मा के बनाये गये नियमों के अनुसार शासन का संचालन करने के लिये वह बाध्य था। विरजस् का पुत्र कर्दम उसका उत्तराधिकारी हुआ और कर्दम के बाद उसके पुत्र अनंग ने शासन का संचालन किया। पितृपरम्परा का पालन करते हुये वे ब्रह्मा के बनाये नियमों के अनुसार ही शासन का संचालन करते रहे। परन्तु अनंग का पुत्र वेन अत्याचारी था। ऋषियों ने उसको राजा के पद से उतार दिया और उन्होंने उसके पुत्र पृथु को राजा बनाया। वेन का पुत्र पृथु वीर, साहसी, प्रजा का हितकारी और ब्रह्मा के नियमों का पालन करने वाला था। उसने ऋषियों के आदर्शों को स्वीकार करते हुये प्रजा के कल्याण की ओर ध्यान दिया।

'महाभारत' के युग में राजाओं को असीमित अधिकार प्राप्त हो चुके थे। वे स्वेच्छाचारी भी हो चुके थे। सैनिक शक्ति द्वारा राज्यों का विस्तार हुआ और सार्वभौम राज्यों की स्थापना हुई। इससे राजाओं की शक्ति में वृद्धि होकर स्वेच्छाचारिता का भी प्रचार हुआ। कौरवों और पाण्डवों के झगड़े इस बात के प्रमाण हैं। पाण्डवों के राज्य से च्युत होने पर और वनों में चले जाने पर प्रजा में उनके प्रति लोकप्रियता होने पर भी सक्रिय विरोध नहीं हुआ, सिवाय इसके कि कुछ प्रजाजनों ने आंसू बहा दिये। राजसभा के सदस्यों ने, यहां तक कि भीष्म और द्रोण ने भी पाण्डवों के पक्ष को धर्मसम्मत समझते हुये भी धृतराष्ट्र और दुर्योधन का पक्ष लिया।

(v) राजा का देवत्व -

वैदिक युग के प्रारम्भिक काल में राजा का निर्वाचन होता रहा था। परन्तु शनै:शनै: उसके अधिकारों में वृद्धि होने के साथ ही स्वेच्छाचारिता और निरंकुशता में भी वृद्धि होती

Scanned by CamScanner

गई। राजा के मन्त्री और पुरोहित, जो पहले उसकी गतिविधियों पर नियन्त्रण रखते थे, उसके मुखापेक्षी हो गये। पुरोहितों ने राजा में देवत्व की कल्पना की तथा उसको देव पद से सम्मानित किया। उत्तरवैदिक काल में राजा में देवताओं के अंश को स्वीकार किया गया। 'महाभारत', पुराण, सूत्रग्रन्थ, स्मृति आदि शास्त्र राजा में देवताओं के अंश का, देवत्व का समर्थन करते हैं। वे उसमें इन्द्र आदि देवताओं के अस्तित्व की कल्पना करते हैं। इस प्रकार जो राजा पहले शासन का अधिष्ठाता था, अब धर्म का भी अधिष्ठाता हो गया। धर्मप्राण भारतीय जनता के मन और हृदय पर भी राजा ने अब पूरा अधिकार स्थापित कर लिया। राजा के विरुद्ध कुछ कहना भी धर्मविरुद्ध माना जाने लगा।

'महाभारत' के अनुसार राजा नरदेव है। वह देव और नरदेव के समान है[१]। समय के अनुसार राजा के पांच रूप होते हैं - अग्नि, सूर्य, मृत्यु, कुबेर और यम[२]। 'मत्स्यपुराण' का कथन है कि स्वयम्भू प्रजापति ने सब प्राणियों की रक्षा और न्यायपूर्वक दण्ड के लिये देवताओं के अंश लेकर राजा की रचना की थी[३]।

कौटिल्य ने राजा के दैवीय सिद्धान्त का समर्थन किया है। राजा इन्द्र और यम का प्रतिनिधि होता है। राजा को अपमानित करने वाले को दैवीय दण्ड मिलता है। अतः उसका अपमान नहीं करना चाहिये[४]।

मनु ने राजा के देवत्व को स्पष्ट रूप से प्रमाणित किया था। राजा की सृष्टि इन्द्र, यम, वायु, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर इन आठ देवताओं के अंशों को लेकर की गई थी[५]। अतः राजा अग्निरूप है, वायुरूप है, चन्द्ररूप है, यमरूप है, कुबेररूप है, वरुणरूप है, इन्द्ररूप है और सूर्यरूप है[६]। 'विष्णुपुराण' और 'भागवतपुराण' के अनुसार राजा के शरीर में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण आदि देवता निवास करते हैं। 'नारदस्मृति' में भी राजा में ईश्वरीय अंश कहा गया है।

भारतवर्ष में पौराणिक ब्राह्मण धर्म का विस्तार होने पर अवतारवाद का सिद्धान्त स्वीकार किया गया था। अब राजाओं को देवताओं का अवतार समझा जाने लगा। प्राचीन

---

१. ततो जगति राजेन्द्र सततं शब्दितं बुधैः।
देवाश्च नरदेवाश्च तुल्या इति विशांपते।। महाभारत शान्ति० ५८.१५३।।

२. महाभारत शान्तिपर्व ६७.४०-४२।।

३. दण्डप्रणयनार्थाय राजा सृष्टः स्वयंम्भुवा।
देवभागानुपादाय सर्वभूतादिगुप्तये।। मत्स्यपुराण २२६.१।।

४. इन्द्रयमस्थानमेतद् राजानः प्रत्यक्षदण्डप्रसादाः। तानवमन्यमानान् देवोऽपि दण्डः स्पृशति। तस्मान्न राजानोऽवमन्तव्याः। अर्थशास्त्र १.९।।

५. इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्राः निर्हृत्य शाश्वतीः।। मनुस्मृति ७.४।।

६. सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः स्वभावतः।। मनुस्मृति ७.७।।

Scanned by CamScanner

साहित्य में राजवंशों की उत्पत्ति का सम्बन्ध देवताओं के साथ जोड़ा गया है। इक्ष्वाकु वंश के राजाओं की उत्पत्ति सूर्य से मानी गयी है, अत: इसको सूर्यवंश कहा गया। कौरव-पाण्डव कुल के राजा चन्द्रवंशी थे। इनके पूर्वजों की उत्पत्ति चन्द्रमा से मानी गयी थी। उत्तरवती कवियों ने प्रसिद्ध राजवंशों की स्तुति का गान करते हुये उनकी उत्पत्ति को देवताओं से सम्बन्धित किया है। महाकवि बाण ने अपने वंश की उत्पत्ति में देवी सरस्वती का और वर्धन वंश के गौरव में भगवान् शिव का योग प्रदर्शित किया है। बिह्लण ने 'विक्रमांकदेवचरितम्' में चालुक्य वंश की उत्पत्ति को ब्रह्मा के चुलुंक से बताया है[१]। 'रघुवंश' महाकाव्य को प्रारंभ करते हुये कालिदास कहते हैं कि इस वंश की उत्पत्ति सूर्य से हुई थी[२]।

संस्कृत कवियों का कथन है कि राजा मनुष्यों में देवता है। उसका दर्शन और सामीप्य दुर्भाग्यशाली व्यक्तियों को नहीं हो सकता[३]। राज्याभिषेक होने पर राजा के अन्दर लोकपाल देवता अपने-अपने अंशों को लेकर प्रवेश करते हैं[४]।

(vi) प्रशासन के उद्भव में पाश्चात्य विवारकों के मत -

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के आचार्यों ने शासन या राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जिन विचारों और सिद्धान्तों को प्रवर्तित किया था, लगभग उसी प्रकार के विचार और सिद्धान्त समकालीन पाश्चात्य राजशास्त्र के आचार्यों ने भी प्रस्तुत किये थे। पाश्चात्य राजनीतिक विचारकों के सिद्धान्तों को निम्न चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है -

(क) दैवी सिद्धान्त
(ख) शक्ति या युद्ध का सिद्धान्त
(ग) अनुबन्ध का सिद्धान्त
(घ) विकास का सिद्धान्त

(क) दैवी सिद्धान्त -

प्राचीन भारतीय परम्पराओं के अनुरूप ही पश्चिम में भी राजा के दैवीय रूप को स्वीकार कर लिया गया था। यहूदी और अन्य धार्मिक ग्रन्थों के अनुसार ईश्वर ने स्वयं आकर या अपने किसी प्रतिनिधि को भेज कर राज्य की स्थापना की थी। इन विचारकों के अनुसार राजा ही राजतन्त्र का सर्वोच्च अधिकारी होता है। डा० घोषाल ने पाश्चात्य विचारकों के मन्तव्यों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया है[५] -

---

१. अथाविरासीत् सुभटस्त्रिलोकत्राणप्रवीणश्चुलुकाद् विधातु:। विक्रमांकदेवचरितम् १.५५।।
२. क्व सूर्यप्रभवो वंश: क्व चाऽल्पविषया मति:।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनाऽस्मि सागरम्। रघुवंश १.२।।
३. दूरे प्रत्यासत्तिर्दर्शनमपि दुर्लभमधन्यै:।
कल्याणकुलधराणां देवानामिव मनुष्यदेवानाम्।। मुद्राराक्षस ४.४।।
४. स्वै: स्वैरंशैर्नरपतिममी लोकपाला: भजन्ते।। चण्डकौशिक ४.२६।।
५. परमात्माशरण मित्तल : 'प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार तथा संस्थायें'
पृ० २८८-२८९ पर उद्धृत।

Scanned by CamScanner

(१) राजतन्त्र ईश्वरकृत संस्था है।
(२) राजाओं को शासन का आनुवंशिक अधिकार है।
(३) राजा केवल ईश्वर के प्रति ही उत्तरदायी होता है।
(४) राजाओं का विरोध नहीं करना चाहिये।
(५) राजतन्त्र ही शासन का अनन्य उचित रूप है।

(ख) शक्ति या युद्ध का सिद्धान्त -

इस सिद्धान्त के नाम से ही स्पष्ट है कि शक्ति के प्रसार की भावना या आधिपत्य स्थापित करने के लिये बल के प्रयोग के कारण राज्य की उत्पत्ति हुई। शक्तिशाली सरदार अपने से कमजोर कबीलों को डरा धमका कर या युद्धों में पराजित करके अपने अधिकार में कर लेते थे। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में वर्णित देवासुर संग्राम प्राचीन भारत में इस सिद्धान्त का अच्छा उदाहरण है। 'ऋग्वेद' में इन्द्र और वृत्र के मध्य शक्ति-परीक्षण के प्रसंग अनेक बार वर्णित हुये हैं।

प्राचीन समय में मनुष्य जिन कबीलों में संगठित होकर रहते थे, युद्धजन्य परिस्थितियों के कारण उनका जीवन असुरक्षित रहता था। अपनी रक्षा और शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिये वे किसी योग्य वीर व्यक्ति को अपना नेता निर्वाचित कर लेते थे। इसी परम्परा ने उत्तरवर्ती काल में राजपद को और राज्याधिकार की परम्परा को जन्म दिया।

(ग) अनुबंध का सिद्धान्त -

पाश्चात्य राजशास्त्र प्रणेताओं ने अनुबन्ध या समय के सिद्धान्त का विस्तार से परिचय दिया है। १७वीं शताब्दी ई० में हाब्स, लॉक और रूसो ने इसका प्रतिपादन किया था। उनका कथन है कि पहले प्राचीन समय में एक अराजनीतिक अवस्था, प्राकृतिक अवस्था थी। इस समय सब लोग जंगली पशुओं के समान आपस में लड़ते रहते थे और कोई न्याय-व्यवस्था नहीं थी। सबने परस्पर समझौता करके एक योग्य शक्तिशाली वीर पुरुष को अपने अधिकार सौंप कर राजा बनाया। इस प्रकार प्रभुता का अस्तित्व समुदाय में हो गया। परन्तु इस व्यवस्था में व्यक्ति की स्वतन्त्रता भी बनी रही। सामान्य इच्छा के आधार पर बनाये गये नियमों का, कानूनों का पालन करने का सबने वचन दिया। यही संस्था उत्तरवर्ती काल में शासनाधिकार से सम्पन्न राज्य के रूप में परिणत हो गई।

भारतवर्ष में प्राचीन शास्त्रों में वर्णित मात्स्य-न्याय का सिद्धान्त इसी अनुबन्ध सिद्धान्त का ही सुन्दर उदाहरण है। अराजक अवस्था से सन्त्रस्त जन अपने नेता को चुनते हैं। 'रामायण', 'महाभारत', पुराण और अन्य साहित्य में मात्स्य-न्याय के सिद्धान्त की उपस्थिति का पहले वर्णन किया जा चुका है। अनुबन्ध या समय के सिद्धान्त को स्वीकार करने के सम्बन्ध में निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं[१] -

(१) समाज के अस्तित्व की रक्षा के लिये राजत्व की, समुचित शासन-व्यवस्था की सत्ता आवश्यक है।

---

१. परमात्माशरण मित्तल : प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थायें पृ० २९२।।

Scanned by CamScanner

(२) राजा का अस्तित्व न होने पर समाज में हिंसा का वातावरण स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जाता है।

(३) यद्यपि राजा पूर्ण शक्तिमान् और अधिकार सम्पन्न होता है, तथापि वह निर्धारित सीमाओं में रहता है।

(४) राजा की उत्पत्ति में दैवीय हस्तक्षेप की कल्पना किसी न किसी रूप में अवश्य है।

अल्तेकर महोदय का कथन है कि पाश्चात्य विचारकों ने, हाब्स और लॉक ने राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अर्थ-धार्मिक और अर्ध-लौकिक दृष्टि से ही विचार किया था। वे न तो समस्या की गहराई तक ही पहुंच सके और ना हीं राजा और प्रजा के अधिकारों की सीमा को ही स्पष्ट कर सके। पाश्चात्य विचारकों ने यह तो अवश्य कहा था कि राज्य द्वारा किये गये संरक्षण और सेवा के बदले प्रजा राजा को कर देती है तथा राजकीय नियमों का पालन करती है, परन्तु उसको यह भी अवश्य अधिकार है कि कर्तव्य से च्युत होने पर राजा को हटा दे या मार डाले। किन्तु उन विचारकों ने उन परिस्थतियों का वर्णन नहीं किया, जिनके होने पर प्रजा इस प्रकार का आचरण कर सकती है। भारतीय विचारधारा में आततायी राजा को हटाने या वध करने का जो अधिकार प्रजा को दिया गया है, उसी से यह स्पष्ट है कि प्रजा ही राजसत्ता की मूल अधिकारिणी है। उसी में सर्वोच्च सत्ता निहित है[१]।

डा० घोषाल के अनुसार पाश्चात्य विचारक राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दार्शनिक सिद्धान्त के स्तर को अधिक नहीं उठा सके थे। उन्होंने अनुबन्ध की शर्तों का निर्वचन इस प्रकार किया है कि वे राजनीतिक ढांचे के मूल तक पहुंच जाते हैं तथा प्रभुसत्ता के स्वरूप को स्पष्ट रूप से परिभाषित करते हैं। भारतीय विचारकों ने प्रजा के प्रति राजा के दायित्वों के सिद्धान्त का विवेचन किया है[२]।

(घ) विकास का सिद्धान्त -

राज्य संस्था के विकास में विकासवाद का सिद्धान्त सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। अरस्तू का कहना है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह परिवार बना कर रहता है। परिवार का यही संगठन विकसित होकर राज्य संस्था के रूप में परिणत हुआ। परिवार से मिल कर गांव बने। गांवों में मिल कर राज्य बने। प्रारम्भिक परिवार पितृसत्तात्मक थे या मातृसत्तात्मक, यह एक अलग विषय है। परन्तु ये परिवार ही राज्य संस्था के रूप में संघटित हुये थे।

प्राचीन आर्यों का पारिवारिक संघटन राज्य के रूप में विकसित हुआ था, इस बात को पहले कहा जा चुका है। 'अथर्ववेद' के अनुसार कुलों से मिल कर ग्राम बने, ग्रामों से मिल कर विश हुये और विशों के मिलने से जन या जनपद का रूप विकसित हुआ।

---

१. ए०एस० अल्तेकर : प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति पृ० २७

२. यू०एन० घोषाल : ए हिस्ट्री आफ पोलीटिकल आइडियाज पृ० ५३९।।

Scanned by CamScanner

इनके अधिपति क्रमशः कुलप, ग्रामणी, विशपति और जनपति हुये। गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि और आमन्त्रण संस्थाओं का वर्णन पहले किया जा चुका है।

(vii) निष्कर्ष -

शासन या राज्य संस्था के उद्भव के सम्बन्ध में विविध मतों का, भारतीय और पाश्चात्य मतों का भी अवलोकन करने से यह स्पष्ट है कि मनुष्यों की अपनी आवश्यकताओं ने, सुरक्षा की इच्छा और शान्ति से रहने की कामना ने ही शासनाधिकार की सत्ता को जन्म दिया था। इस सम्बन्ध में पाश्चात्य और प्राचीन भारतीय मतों में बहुत अधिक समानता है।

वैदिक साहित्य में शासन की उत्पत्ति अधिक प्रजासत्तात्मक है। इसमें राजा का किसी न किसी रूप में निर्वाचन होता था। उसके अधिकार सीमित थे और वह जन-नेताओं के नियन्त्रण में रहता था। वैदिकोत्तर युग में राजा को देवताओं के अंश से उत्पन्न माना जाने लगा। इस कारण उसके अधिकारों और शक्ति में और भी अधिक वृद्धि हुई। वह असीमित अधिकार-सम्पन्न और स्वेच्छाचारी हो गया। शासन के अधिकार के साथ ही वह धर्म का अधिष्ठाता भी बन गया।

लोक और धर्म दोनों का स्वामी हो जाने के कारण अब राजा पूर्ण रूप से निरंकुश हो गया था। सम्पूर्ण लोक का वैभव, प्रजा की धन-सम्पत्ति तथा सर्वस्व अब राजाओं की व्यक्तिगत सम्पत्ति समझे जाते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि जो राजा धार्मिक प्रवृत्ति के थे और प्रजा के हित की अभिलाषा रखते थे, उनके शासन में प्रजा को सुख-समृद्धि प्राप्त होती थी। वे शान्ति से रहते थे। परन्तु विलासी, स्वेच्छाचारी और निरंकुश राजाओं के शासन में उन राजाओं पर कोई अंकुश नहीं रहा और वे और भी अधिक अत्याचारी हो गये। प्रजाजनों के कष्टों का निवारण करने वाली कोई ऐसी शक्ति नहीं रह गयी थी, जो उन पर नियन्त्रण रख सके। इन अवस्थाओं में प्रजा का सुख, समृद्धि और शान्ति सब राजा की व्यक्तिगत इच्छा पर निर्भर हो गये।

Scanned by CamScanner

द्वितीय अध्याय : भाग १

प्राचीन भारतीय राजशास्त्रकार

द्वितीय अध्याय में प्राचीन भारतीय राजशास्त्रकारों और प्रमुख ग्रन्थों का परिचय दिया जा रहा है।

विषय-वस्तु की व्यापकता की दृष्टि से इस अध्याय को तीन भागों में विभक्त किया गया है।

१. वैदिक साहित्य, महाभारत और अन्य प्रमुख राजशास्त्रकार तथा उनके मौलिक ग्रन्थ

२. राजशास्त्रीय निबन्धकार

३. प्राचीन शास्त्रों में उल्लिखित अन्य राजशास्त्रप्रणेता

इनका विवरण क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रथम भाग में प्राचीन राजशास्त्रकारों का विवरण है।

सभ्यता के विकास के साथ ही सामाजिक संघटनों का विकास हुआ। परिवारों और कुलों का संघटित रूप शासन-व्यवस्था का पूर्वरूप है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वैदिक संहिताओं के अनुसार पहले कुलों, तदनन्तर ग्रामों, , विशों और जनपदों के संघटित होने पर शासन-व्यवस्था के संचालन के लिये और राज्य में आन्तरिक शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने के लिये राजकीय नियम बनाये गये। इन नियमों का जिस शास्त्र द्वारा प्रतिपादन हुआ, उसको राजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र या दण्डनीति कहा गया। इन सभी पदों में राजशास्त्र पद अधिक उपयुक्त है। इसमें निर्धारित नियमों द्वारा ही प्रशासनिक संस्थाओं का गठन किया जाता है। प्राचीन शास्त्रों की प्रशासनिक संस्थाओं का अध्ययन करने के लिये उन शास्त्रीय ग्रन्थों का गहन अवलोकन करना अनिवार्य है। इसके साथ ही उन आचार्यों के सम्बन्ध में भी कुछ जानना चाहिये, जिन्होंने उन ग्रन्थों की रचना की थी।

भारतीय परम्पराओं के अनुसार वेद सब सत्य विद्याओं के भण्डार हैं। उनमें अन्य विद्याओं के साथ राजनीति विद्या भी निहित है। वेदों के अनन्तर लिखे गये व्याख्यानात्मक साहित्य, कल्पसूत्र, 'रामायण', 'महाभारत', स्मृति आदि साहित्य में साधारण रूप से राजशास्त्रीय नियमों को लिखा गया था। परन्तु इन ग्रन्थों में राजशास्त्रीय नियमों के लेखन के साथ ही अन्य भी अनेक विषय सम्मिलित हैं। उत्तरवर्ती काल में विशुद्ध राजशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना हुई। इनमें कौटिल्य, कामन्दक, शुक्र आदि नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। इनके राजशास्त्र विषयक ग्रन्थ वर्तमान समय में उपलब्ध हैं।

Scanned by CamScanner

राजशास्त्र विषय के इन मौलिक ग्रन्थकारों के अनन्तर उन निबन्धकारों के नाम आते हैं, जिन्होंने कि प्राचीन आचार्यों के मतों का अनुसरण करते हुये राजशास्त्र विषयक ग्रन्थों की रचना की थी। इनमें सोमदेव सूरि, लक्ष्मीधर, चण्डेश्वर, मित्रमिश्र, नीलकण्ठ, अनन्तदेव आदि आचार्य अधिक प्रसिद्ध हैं। प्राचीन साहित्य में अनेक उन आचार्यों के नाम भी उपलब्ध होते हैं, जिनके मतों और कृतियों का उल्लेख तो हुआ है, परन्तु वे ग्रन्थ वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं होते । इनमें रामचन्द्र, नारद, पितामह, विशालाक्ष, भारद्वाज, उशनस्, शम्बर, मातंग, कालकवृक्षीय और कणिक के नाम लिये जा सकते हैं। प्राचीन प्रशासनिक संस्थाओं का विवरण लिखने से पूर्व इन सभी आचार्यों और उनकी कृतियों का संक्षिप्त परिचय देना उचित होगा। सर्वप्रथम भाग १ में प्राचीन भारतीय राजशास्त्रकारों और प्रमुख ग्रन्थों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. वैदिक साहित्य

भारतीय राजशास्त्र और प्रशासनिक संस्थाओं के अस्तित्व के सबसे प्राचीन लेखबद्ध प्रमाण हमको वैदिक साहित्य से प्राप्त होते हैं। वैदिक साहित्य का यद्यपि विशुद्ध रूप से राजनीति एवं प्रशासन के विषय से सम्बन्ध नहीं है, तथापि इसमें राजधर्म, एवं प्रशासन को संचालित करने के उपदेश स्थान-स्थान पर उपलब्ध होते हैं। अत: राजशास्त्र और प्रशासनिक संस्थाओं के उदय और विकास को प्रारम्भ करने का श्रेय वैदिक संहिताओं और उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य को दिया जा सकता है।

(i) वैदिक साहित्य का विस्तार और उसका रचनाकाल –

वैदिक साहित्य को मुख्य रूप से चार विभागों में विभक्त किया जा सकता है - वैदिक संहितायें, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक और उपनिषद्। इसके अनन्तर चार उपवेद और वेदांग साहित्य है।

वैदिक संहितायें चार हैं- 'ऋग्वेद', 'सामवेद', 'यजुर्वेद' और 'अथर्ववेद'। वेदों से ही सम्बद्ध ब्राह्मण, आरण्यक, और उपनिषद् इनके व्याख्यात्मक ग्रन्थ कहे जाते हैं। चार वेदों के साथ प्रत्येक का एक-एक उपवेद है - आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद। वेदों की व्याख्या करने वाले वेदांग हैं। इनकी संख्या ६ है - शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द: और ज्योतिष । इनके अतिरिक्त प्रातिशाख्य, बृहद्देवता, अनुक्रमणी आदि साहित्य भी है। इससे वैदिक देवताओं, ऋषियों, छन्दों, मन्त्रों के संगठन आदि विषयों की सूचनायें प्राप्त होती हैं। वर्तमान समय में उपलब्ध यह साहित्य निम्न है –

(अ)ऋग्वेद से सम्बन्धित साहित्य -

(क) शाखायें - शाकल संहिता।
(ख) उपवेद - आयुर्वेद
(ग) ब्राह्मण - कौषीतकि, ऐतरेय
(घ) आरण्यक - कौषीतकि,ऐतरेय
(ङ) उपनिषद् - कौषीतकि, ऐतरेय

Scanned by CamScanner

(च) कल्पसूत्र - श्रौतसूत्र - शांखायन, आश्वलायन
गृह्यसूत्र - शांखायन, आश्वलायन, शाम्बव्य
धर्मसूत्र - वसिष्ठ

(छ) प्रातिशाख्य - ऋक्प्रातिशाख्य

(ज) अनुक्रमणी - आर्षानुक्रमणी, छन्दोऽनुक्रमणी , देवतानुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी, सूक्तानुक्रमणी, ऋग्विधान,पादविधान, बृहद्देवता, ऋक्सर्वानुक्रमणी, माधवीयानुक्रमणी

(ब) यजुर्वेद से सम्बन्धित साहित्य -

(१) शुक्ल यजुर्वेद
(२) कृष्ण यजुर्वेद

(१) शुक्ल यजुर्वेद से सम्बन्धित साहित्य -

(क) शाखायें - वाजसनेयि या माध्यन्दिन, काण्व
(ख) उपवेद - धनुर्वेद
(ग) ब्राह्मण - शतपथ
(घ) आरण्यक - बृहदारण्यक, जैमिनीयोपनिषद् या तलवकार
(ङ) उपनिषद् - बृहदारण्यक, ईश
(च) कल्पसूत्र - श्रौतसूत्र - कात्यायन
गृह्यसूत्र - पारस्कर
(छ) प्रातिशाख्य - शुक्लयजु:प्रातिशाख्य
(ज) अनुक्रमणी - शुक्लयजु:सर्वानुक्रमणी, निगमपरिशिष्ट, यजुर्विधान

(२) कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित साहित्य

(क) शाखायें - तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठ
(ख) उपवेद - धनुर्वेद
(ग) ब्राह्मण - तैत्तिरीय
(घ) आरण्यक - तैत्तिरीय, मैत्रायणी
(ङ) उपनिषद् - तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठ, श्वेताश्वतर
(च) कल्पसूत्र - श्रौतसूत्र - बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, वैखानस, मानव, काठक
धर्मसूत्र - बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी
गृह्यसूत्र - बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, वैखानस, भारद्वाज, मानव, काठक
(छ) प्रातिशाख्य - तैत्तिरीय
(ज) अनुक्रमणी - याजुष सर्वानुक्रमणी, काण्डानुक्रमणी

(स) सामवेद से सम्बन्धित साहित्य –

(क) शाखायें - कौथुमी, जैमिनीय, राणायणीय

Scanned by CamScanner

(ख) उपवेद - गान्धर्ववेद
(ग) ब्राह्मण - ताण्ड्य (पंचविंश, षड्विंश, अद्भुत, मन्त्र, छान्दोग्य) आर्षेय, वंश, संहितोपनिषद्, जैमिनीयोपनिषद, जैमिनीय, तलवकार, सामविधान
(घ) आरण्यक - जैमिनीयोपनिषद् या तलवकार
(ङ) उपनिषद् - छान्दोग्य, केन
(च) कल्पसूत्र - श्रौतसूत्र - मशक, लाव्यायन, द्राह्यायण
गृह्यसूत्र - गोभिल, खादिर
धर्मसूत्र - गौतम
(छ) प्रातिशांख्य - सामप्रातिशाख्य
(ज) अनुक्रमणी - सामविधान

(द) अथर्ववेद से सम्बन्धित साहित्य -

(क) शाखायें - शौनक, पैप्पलाद
(ख) उपवेद - अर्थवेद
(ग) ब्राह्मण - गोपथ
(घ) उपनिषद् - प्रश्न, मण्डूक, माण्डूक्य
(ङ) कल्पसूत्र - श्रौतसूत्र - वैतान
गृह्यसूत्र - कौशिक
(च) प्रातिशाख्य - अथर्वप्रातिशांख्य
(छ) अनुक्रमणी - बृहत्सर्वानुक्रमणी, अथर्वविधान

वेदों की रचना का समय निर्धारित करना अति कठिन कार्य है। यह विवादास्पद भी है। भारतीय परम्पराओं के अनुसार वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं। वे अनादि और नित्य हैं। सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ने इस ज्ञान को अग्नि, वायु आदित्य और अंगिरा ऋषियों को दिया था। परन्तु आधुनिक विद्वान् वेदों की रचना का समय निर्धारित करते हैं। इनमें सबसे प्राचीन 'ऋग्वेद' को कहा गया है। इसका समय १२०० ई०पू० से लेकर ५०००० ई० पू० तक का विविध विद्वानों ने प्रतिपादित किया है। इस सम्बन्ध में मैक्समूलर, विलसन, कीथ, विन्टरनिट्ज , कोलबुक, मैक्डानल, जैकोबी, हाग आदि पाश्चात्य विद्वानों के और आर०जी० भण्डारकर, शंकर बालकृष्ण दीक्षित, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, नारायणराव भवनराव पारडी, अमल नरेकर आदि भारतीय विद्वानों के मत विचारणीय हैं। 'यजुर्वेद' और 'सामवेद' की रचना इसके बाद की कही गई है। 'अथर्ववेद' को सबसे बाद का कहा जाता है। परन्तु वेदों की रचना का ठीक समय निर्धारित करना विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। केवल यही ध्यान रखना चाहिये कि ये संहितायें विश्व का प्राचीनतम साहित्य हैं।

वैदिक साहित्य के अनन्तर उपवेदों, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों की रचना हुई और उसके बाद वेदांगों और अन्य साहित्य को लिखा गया। उपवेद एक प्रकार के तकनीकी साहित्य हैं जिनका विकास अन्य साहित्य के साथ होता रहा। ब्राह्मण आदि साहित्य का

Scanned by CamScanner

संकेत 'महाभारत' में भी है। वर्तमान 'महाभारत' का यह रूप ई०पू० दूसरी शताब्दी में बन चुका था। अत: सम्पूर्ण वैदिक साहित्य की रचना 'महाभारत' की रचना से पहले ही चुकी होगी।

ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना का समय यूरोपीय विद्वानों ने १२००-२०० ई०पू० निर्धारित किया है। परन्तु भारतीय विद्वान् इनको और भी बहुत पहले का मानते हैं। यह समय ३००० ई०पू० तक चला गया है। मैक्समूलर का कथन है कि १२०० ई०पू० तक ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी। आरण्यकों की रचना का समय इसके बाद का है। उपनिषदों की रचना का समय आरण्यकों के भी बाद का है। अनेक आरण्यक ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थों के ही भाग हैं। कुछ उपनिषद् जैसे कि 'ईशोपनिषद्', वैदिक संहिता के ही भाग हैं। 'यजुर्वेद' का चालीसवां अध्याय 'ईशोपनिषद्' है। कुछ उपनिषद् अपने ब्राह्मण ग्रन्थों के अंश है। उपनिषदों की भाषा रामायण-महाभारत की भाषा और वैदिक भाषा के मध्य की है, अत: इनको इन महाकाव्यों के पूर्व ही लिखा जा चुका होगा। विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया है कि उपनिषदों की रचना ६०० ई०पू० तक हो चुकी थी। तिलक का कथन है कि उपनिषदें १६०० ई०पू० तक लिखी जा चुकी थीं।

(ii) वैदिक साहित्य में राजशास्त्र और प्रशासनिक संस्थायें -

वैदिक साहित्य में राजशास्त्र और प्रशासनिक संस्थाओं का क्रमबद्ध वर्णन नहीं है। परन्तु स्थान-स्थान पर इसके संकेत-सूत्र अवश्य ही उपलब्ध हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में 'ऋग्वेद', ब्राह्मण ग्रन्थ और धर्मसूत्र अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

(iii) शासन का उद्भव -

वैदिक व्यवस्था के अनुसार शासन के उद्भव का प्रसंग पहले आ चुका है। शासन का उद्भव सामाजिक सुरक्षा की भावना से हुआ था। आन्तरिक और बाह्य उपद्रवों से रक्षा प्राप्त करने के लिये यह विकास चार चरणों - गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि और आमन्त्रण के रूप में हुआ।

शासन की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य में दैवी, शक्ति और अनुबन्ध इन तीनों सिद्धान्तों का समन्वय है। इनका समावेश विकास के सिद्धान्त में हो जाता है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में देवताओं से - अग्नि, गायत्री, स्वस्ति, बृहस्पति आदि से राजा में प्रवेश करने की प्रार्थना की गई है। इस प्रकार राजा में दैवीय अंश हैं[१]। युद्धजन्य परिस्थितियों ने राजा के निर्वाचन को आवश्यक बनाया। अनुबन्ध या संविदा का सिद्धान्त भी राज्य-शासन के उद्भव में निहित है, जबकि प्रजा ने पारस्परिक हित की भावना से राजा का निर्वाचन किया था। उस समय अनुबन्ध हुआ कि राजा द्वारा प्रजा की रक्षा की जायेगी और प्रजा राजा के आदेशों का पालन करेगी[२]। राज्य संस्था के विकास के सम्बन्ध में चार चरणों का उल्लेख किया जा चुका है।

---

१ ऐतरेय ब्राह्मण ६.२.६ ।।

२ आर०एस० शर्मा : एस्पेक्ट्स आफ पोलीटिकल आईडियाज एण्ड इन्सीट्यूशन्स इन एन्शियेन्ट इन्डिया पृ०४८।।

Scanned by CamScanner

(iv) राष्ट्र की भावना और राजतन्त्र एवं प्रजातन्त्र -

वैदिक भावनाओं के अनुसार गृहों से कुल, कुलों से ग्राम, ग्रामों से विश और विशों से जन (जनपद) बने। अन्तं में राष्ट्र की उत्पत्ति होकर राष्ट्र की भावना का विकास हुआ। सुरक्षा और आक्रमणों की सम्भावनाओं ने राष्ट्रीय भावना का विकास किया और राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न हुई।

राष्ट्र पद का प्रयोग देश और राज्य के लिये किया गया था। वैदिक साहित्य में राष्ट्र को सुदृढ़ तथा समुन्नत करने की प्रार्थनायें हैं। वरुण राष्ट्र को अविचलित करे, बृहस्पति इसको स्थिरता प्रदान करे, इन्द्र इसको सुदृढ करे और अग्नि इसको धारण करे। राष्ट्र में वीर धनुर्धर क्षत्रिय, तेजस्वी, ब्राह्मण और समृद्धि को बढ़ाने वाले वैश्य हों।

वैदिक शासन-व्यवस्था मुख्य रूप से राजतन्त्री ही थी, परन्तु इस साहित्य में गणतन्त्र राज्यों के भी उल्लेख मिलते है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में आठ प्रकार के शासनों का उल्लेख है। जिनका विवरण डा० परमात्माशरण ने निम्न प्रकार से किया है[१] :-

शासन विधान	शासन पद्धति	प्रदेश
साम्राज्य	सम्राट्	पूर्व
भोज्य	भोज	दक्षिण
स्वराज्य	स्वराट्	पश्चिम
वैराज्य	विराट्	उत्तर (मद्र-कुरु)
राज्य	राट्	कुरु-पांचाल
पारमेष्ठ्य		कुरु-पांचाल
महाराज		से उत्तर
आधिपत्य		की ओर

वैदिक संहिताओं के युग में राजतन्त्र शासन-पद्धति होने पर भी उत्तरवैदिक युग में प्रजातन्त्र (गणतन्त्र) व्यवस्था के संकेत अवश्य हैं। के.पी जायसवाल ने लिखा है कि भारत में गणतन्त्री व्यवस्था का विकास राजतन्त्र के बहुत बाद का है। इसका उल्लेख उत्तरवर्ती काल में 'ऐतरेय' और 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में है[२]।

राजा प्रजा का संरक्षक है और शासक भी है। वह आन्तरिक सुरक्षा प्रदान करता था, बाह्य शत्रुओं से बचाता था, न्याय का अधिकारी था और युद्धों में सेना का नेतृत्व करता था। प्रारम्भ में राजा का वरण करने की परम्परा रही थी[३]। "राजानो राजकृतः " जैसे पद सूचित करते हैं कि राजा को निर्वाचित करने के लिये कोई निर्वाचन मण्डल अवश्य रहा होगा। परन्तु उत्तरवर्ती काल में सेना का नायक होने से उसके अधिकारों में वृद्धि

---

१. परमात्माशरण मित्तल : प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थायें पृ० २३।।
२. के०पी० जायसवाल : हिन्दू पोलिटी पृ० २१
३. ऋग्वेद १०.१७३, अथर्ववेद ६.८७-८८, ३ ४.७।।

Scanned by CamScanner

होती गई और वह निरंकुश शासक बन गया। राजा में देवत्व की कल्पना ने उसके अधिकारों में और भी वृद्धि की।

(v) सभा, समिति, मन्त्री और राजकर्मचारी -

वैदिक संहिताओं में शासन के संचालन के लिये राजा की सहायता और नियन्त्रण के लिये सभा और समिति का उल्लेख आता है। इन संस्थाओं का विस्तृत विवरण आगे दिया गया है। समिति जन-समुदाय की संस्था रही थी और सभा के सदस्य विशिष्ट जन होते थे। इन दोनों संस्थाओं को प्रजापति की दुहिता कहा गया है। सभा और समिति के अतिरिक्त विदथ एवं सेना का उल्लेख भी वैदिक साहित्य में है।

मन्त्री और राजकर्मचारियों में 'ऋग्वेद' में मुख्य रूप से पुरोहित, सेनानी और ग्रामणी नाम है। पुरोहित (पुरोधा) पद अति महत्त्वपूर्ण है। वह राजा का शिक्षक, पथप्रदर्शक, मित्र और ऋषि सब कुछ था। राजा की विजय और कल्याण के लिये वह देवताओं की स्तुति करता था। 'ऋग्वेद' में विश्वामित्र और वसिष्ठ इन प्रमुख पुरोहितों के नाम आये हैं। सेनानी सेना का नेता था। ग्रामणी का कार्य ग्राम का नेतृत्व करना था। 'अथर्ववेद' में इन कर्मचारियों की संख्या ५ कही गई है - सूत, रथकार, कर्मार, ग्रामणी और राजानः। कालान्तर में ये ९ हो गये, जो "राजानः राजकृतः" कहलाये - पुरोहित, राजन्य, महिषीः, वावाता, सेनानी, रथकार, कर्मार, ग्रामणी और राजानः। ये रत्नि कहलाते थे तथा राजा का निर्वाचन भी करते थे। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में १२ और 'शतपथ ब्राह्मण' में १३ रत्नियों की संख्या है। इनका विवरण आगे दिया गया है।

वैदिक युग में राजकीय प्रताप को प्रदर्शित करने और राज्याभिषेक को अलकृत करने के लिये राजसूय और बाजपेय यज्ञों का विधान है। राजसूय यज्ञ में प्रजा के प्रतिनिधि राजा पर अभिषिंचन करते थे। ब्राह्मण ग्रन्थों, विशेष रूप से 'शतपथ ब्राह्मण' में अश्वमेध यज्ञ और ऐन्द्र महाभिषेक का भी वर्णन है।

(VI) प्रशासन का रूप -

वैदिक युग में शासन की इकाई ग्राम थे। शासन का मुख्य अधिकारी ग्रामणी था। शासन की व्यवस्था विकेन्द्रीकृत थी और ग्रामों के शासन में सामान्य रूप से केन्द्रीय शासन का हस्तक्षेप नहीं था। ग्रामणी के द्वारा राजा ग्रामों पर शासन चलाता था।

प्रशासन में सेना का मुख्य भाग है। आन्तरिक तथा बाह्य उपद्रवों से रक्षा के लिये सेना का संगठन किया गया था। सेना का प्रमुख सेनानी राजा ही था। वह युद्धों में स्वयं सेना का नेतृत्व करता था। वैदिक साहित्य में आर्य-अनार्य युद्धों तथा आर्यों के परस्पर कुलों के युद्धों का विस्तृत वर्णन है। राजा दिग्विजय-यात्रा करते थे। इस निमित्त से वे अश्वमेध, राजसूय और बाजपेय यज्ञ करते थे। सेना में पदातिसेना के साथ रथसेना और अश्वसेना विशिष्ट थी। युद्धों की सैनिक सामग्री में धनुष-बाण, भल्ल, असि, बल्लम, अशनि, आदि प्रमुख आयुध थे। कवच, हस्तत्राण शिरस्त्राण आदि सुरक्षा के आवरण थे। ध्वज लहराते थे और दुन्दभियों का घोष होता था। युद्ध की कला धनुर्विद्या कहलाती थी। इसके लिये धनुर्वेद का विकास हुआ था।

Scanned by CamScanner

राज्य के संचालन के लिये कर एकत्रित करना अनिवार्य था। राजकीय अधिकारियों में भागधुक् का कार्य कर-संचय था। राजा प्रजा की रक्षा करता है, अत: कर, जिसको बलि भी कहा गया है, एकत्रित करता है। राजा को बलिहृत् भी कहा गया था। भूमि-कर राज्य की आय का प्रमुख स्रोत था। भूमि की उपज का तथा पशुओं की समृद्धि का एक निश्चित अंश राजा को प्राप्त होता था।

न्याय की व्यवस्था वैदिक युग में समुचित थी। न्याय का प्रमुख अधिकारी राजा था। तथापि सभा, न्यायसभा के रूप में भी कार्य करती थी। धर्मसूत्रों में विविध अपराधों और उनके निमित्त दण्ड का भी विस्तृत वर्णन है। 'ऋग्वेद' के दसवें मण्डल में मध्यमासी पद का प्रयोग है। इसका अभिप्राय है कि उस युग में पंचायत प्रथा का किसी रूप में प्रचलन रहा था।

२. मनु और याज्ञवल्क्य

प्राचीन भारतीय शासन-प्रणाली के इतिहास और स्वरूप के सम्बन्ध में स्मृति ग्रन्थों का बहुत अधिक महत्त्व है। धर्म के निर्णय में वेदों के पश्चात् स्मृतियों का महत्त्व है। शासन का संचालन भी राजधर्म ही है, जिसका निर्देश स्मृतिशास्त्र करते हैं। स्मृतियों में भी 'मनुस्मृति' और 'याज्ञवल्क्य स्मृति' का अधिक महत्त्व है। राजधर्म का उपदेश 'याज्ञवल्क्य स्मृति' की अपेक्षा 'मनुस्मृति' में अधिक विस्तार से है। तथापि 'याज्ञवल्क्य स्मृति' में राजधर्म के सम्बन्ध में संकेत अवश्य हैं।

(i) मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति की रचना का समय –

'मनुस्मृति' की रचना का ठीक समय निर्धारित करना कठिन है। मनु के शासन के मार्ग का प्राचीन लेखकों और कवियों ने उद्धरण प्राय: दिया है। 'महाभारत' में इसका उल्लेख है। कालिदास का कथन है कि रघुवंशी राजा मनु द्वारा निर्दिष्ट मार्ग के अनुसार प्रजा का पालन करते थे।

भारतीय परम्पराओं के अनुसार मानव जाति का प्रथम राजा मनु हुआ। समालोचकों का कथन है कि मनु द्वारा प्रणीत विचार बहुत समय तक बिखरे रूप में प्रचलित रहे। परन्तु 'मनुस्मृति' या 'मानवधर्मशास्त्र' के रूप में इनका संकलन बहुत बाद में हुआ। वर्तमान 'मनुस्मृति' में अत्रि, वसिष्ठ, गौतम आदि के नाम हैं, जो स्वयं मनु को उद्धृत करते हैं। वर्तमान 'मनुस्मृति' का रूप ई०पू० द्वितीय शताब्दी से ईसा की दूसरी शताब्दी के मध्य काल की रचना है[1]।

'याज्ञवल्क्य स्मृति' की रचना का समय १५०-२०० ईसवी के मध्य का माना जाता है। इस स्मृति के प्रारम्भ में मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत आदि स्मृतियों के नामों से अनुमान होता है कि याज्ञवल्क्य ने इन मनीषियों के विचारों को अपनी स्मृति में संचित किया था।

(ii) मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति का सामान्य परिचय –

मनुस्मृति में १२ अध्याय हैं। इनके विषय निम्न प्रकार से हैं –

१. के०पी० जायसवाल : मनु एण्ड याज्ञवल्क्य पृ० २१।।

Scanned by CamScanner

१. विश्व की सृष्टि
२ जातकर्म आदि संस्कार और ब्रह्मचर्य
३. पंच महायज्ञ और नित्य श्राद्ध की विधि
४. गृहस्थ
५. भक्ष्य-अभक्ष्य
६. वानप्रस्थ और संन्यास
७. व्यवहारों की विधि और कर ग्रहण आदि राजधर्म
८. साक्षी
९. स्त्री-पुंधर्म और सम्पत्ति का विभाजन
१०. आपत्ति-काल के कर्तव्य कर्म
११. प्रायश्चित्त
१२. आत्मज्ञान

'याज्ञवल्क्य स्मृति' में तीन अध्याय हैं, और प्रत्येक अध्याय में अनेक प्रकरण हैं। कुल श्लोकों की संख्या १०१० है। प्रथम अध्याय अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें १३ प्रकरण हैं। इसके मुख्य विषय हैं - ब्रह्मचर्य, विवाह, गृहस्थधर्म, वर्ण-जाति, स्नातकधर्म, यतिधर्म, दानधर्म, ऋणादान, राजधर्म, दण्डपारुष्य, साक्षी, लेख्य और दायभाग। 'याज्ञवल्क्य स्मृति' का दायभाग प्रकरण बहुत महत्त्व का है। भारतवर्ष में उत्तराधिकार के नियमों की सृष्टि अधिकांशत: इसी के आधार पर हुई थी।

(iii) शासन का उद्‌भव एवं राजा का देवरूप -

शासन के उद्‌भव के सम्बन्ध में मनु ने दैवी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। आदि काल में आसुरी वृत्तियों के प्रबल होने पर चराचर की रचना के लिये प्रभु ने राजा की सृष्टि की। राजा के सृजन के हेतु आठ लोकपाल देवताओं - इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर के अंशों को लिया गया[१]। राजा के सभी देवताओं के अंशों से युक्त होने से वह विशिष्ट देव हैं और सर्वदेवमय है। मनुष्य के रूप में वह महान् देव पृथिवी तल पर विचरण करता है[२]।

राजा को मनु ने धर्म का प्रतिपालक और प्रेरक कहा है। वह प्रजा को धर्म में स्थिर रख कर प्रजा का कल्याण करता है। यह धर्म पद संकुचित अर्थ में नहीं है। यह एक व्यापक अर्थ में है। इसमें संसार का यथार्थ सत्य, राजनियमों का पालन, नैतिकता की रक्षा, लोककल्याण की भावना आदि सभी तत्त्वों का समावेश है।

धर्म की रक्षा के लिये दण्ड का सृजन विधाता ने किया था। दण्ड प्रजाओं पर शासन करता है, दण्ड प्रजाजनों की रक्षा करता है, सबके सोने पर दण्ड ही जागता रहता है,

---

१. मनुस्मृति ७.४ ।। २. मनुस्मृति ७.७ ।।

Scanned by CamScanner

अत: विद्वान् लोग दण्ड को ही धर्म कहते हैं[1]। परन्तु दण्ड की व्यवस्था सम्यक् होनी चाहिये। दोषी व्यक्ति को देश, काल, शक्ति और विद्या का विचार करके दण्ड देना चाहिये।

(iv) राजा के गुण, कर्तव्य और दिनचर्या –

स्मृतिकारों ने राजा के गुणों, कर्तव्यों और दिनचर्या का विशेष वर्णन किया है। राजा को नित्य नियम पालन करने वाला, विनीत, इन्द्रियजयी, व्यसनों से रहित, त्रयी विद्या का ज्ञाता, वृद्ध जनों और विद्वानों की सेवा करने वाला होना चाहिये।

राजा को अपनी और प्रजा की रक्षा में सतत जागरूक रहना चाहिये। उसको दुर्ग में, विशेष रूप से पर्वतीय दुर्ग में निवास करना चाहिये। शुभ लक्षणों वाली सजातीय कन्या से विवाह करना चाहिये। राजा के कार्यों के लिये योग्य कर्मचारियों को नियुक्त करना चाहिये। युद्ध में वीरता से भाग लेना चाहिये। प्रजा का पालन करना ही क्षत्रिय राजा का परम कर्तव्य है। यही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। मनु ने राजा के अष्टविध कर्मों का निर्देश किया है। कुल्लूक भट्ट के अनुसार राजा के अष्टविध कर्म निम्न है:–

१. कर ग्रहण करना
२. पुरस्कार देना और दान देना
३. अमात्य आदियों को उचित आज्ञा देना
४. अनुचित कार्यों का निषेध करना
५. सन्दिग्ध विषय में निर्णय देना
६. व्यवहारों का निर्णय करना
७. उचित दण्ड की व्यवस्था करना
८. प्रायश्चित्त करना

मेधातिथि ने अष्टविध कर्म दो प्रकार से कहे हैं। ये हैं –

१. अनारम्भ से आरम्भ करना
२. आरम्भ को पूरा करना
३. आरम्भ कार्य में विशेषता लाना
४. किये गये कार्य का फल संग्रह करना
५. साम पर विचार करना
६. दान पर विचार करना
७. भेद पर विचार करना
८. दण्ड पर विचार करना

अथवा

१. मार्गों का निर्माण करना
२ पुलों का निर्माण करना

---

१. दण्ड: शास्ति प्रजा: सर्वा: दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्ड: सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधा:।। मनुस्मृति ।। ७१८।।

Scanned by CamScanner

३. दुर्गों का निर्माण करना
४. निर्मित कार्यों की मरम्मत और संशोधन
५ खानों को खुदवाना
६ जनरहित स्थानों को बसाना
७ हाथियों को संगृहीत करना
८ घने वनों को कटवाना

'याज्ञवल्क्य स्मृति' के अनुसार राजा को उत्साही, कृतज्ञ, वृद्धसेवी, विनयी, सत्यवादी, पवित्र, क्षिप्रकारी, स्मृतिवान्, धार्मिक, शूर, अव्यसनी, रहस्यज्ञ, पण्डित, आत्मवेत्ता, आत्मविद्या और राजविद्या में निपुण, लाभ के उपायों का ज्ञाता और वेदत्रयी का मर्मज्ञ होना चाहिये[1]।

राजा की दिनचर्या का मनु ने विस्तार से वर्णन किया है। रात्रि के अन्तिम प्रहर में, ब्राह्ममुहूर्त में उठ कर उसकी दिनचर्या प्रारम्भ होती है। इसका सारांश डा० परमात्माशरण ने इस प्रकार दिया है[2] :-

(अ) प्रातः –

(१) स्नान, अध्ययन और पूजा
(२) जनता की शिकायतों पर ध्यान देना
(३) मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा
(४) राज्य के परराष्ट्र विषयों पर राजदूतों और गुप्तचरों के साथ मन्त्रणा
(५) सैनिक मामलों के विषय में सेनापति के साथ परामर्श

(ब) मध्याह्न और रात्रि –

(१) व्यायाम, स्नान, आराम और रनिवास के मामले
(२) सेना और युद्ध-सामग्री का निरीक्षण
(३) सायंकाल की प्रार्थना
(४) गुप्त परामर्श
(५) संगीत और शयन

याज्ञवल्क्य भी राजा की दिनचर्या का विस्तृत वर्णन करते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने प्रायः मनु का अनुसरण किया है।

(v) राजा का युद्ध धर्म –

स्मृति ग्रन्थों में राजा का क्षत्रिय होना विहित है। राजन्य पद क्षत्रियत्व का द्योतक है। राजा को विविध आयुधों के प्रयोग में कुशल एवं सेनाओं के संचालन में प्रवीण होना चाहिये। क्षत्रिय राजा युद्ध में कभी पराङ्मुख न हो। युद्ध की स्थिति आपातकाल है। इस समय वह विशेष कर ले सकता है।

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति : आचार अध्याय ३०९-३११।।
२. परमात्माशरण मित्तल : प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार और संस्थायें पृ० २१२ ।।

Scanned by CamScanner

(vi) राजा की निरंकुशता -

स्मृति शास्त्रों में विशेष रूप से 'मनुस्मृति' और 'याज्ञवल्क्य स्मृति' में राजा को यद्यपि लौकिक और दैवीय अधिकार प्रदान किये गये थे, तथापि वह निरंकुश नहीं था। राजा को धर्म के अधीन रख कर स्मृतिकारों ने उसकी स्वेच्छाधारिता पर रोक लगाई थी। मनु ने धर्म और दण्ड को राजा कहा है। उसे धर्म का अतिक्रमण करने का अधिकार नहीं है। कोई भी राजा के विरुद्ध व्यवहार नहीं कर सकता। प्रजा को राजा से रक्षा पाने का अधिकार है और राजा अपनी सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकता।

याज्ञवल्क्य का कथन है कि राजा द्वारा अवैध कार्य करने पर उसको शासक पद से हटाया जा सकता है। उसको परिवार सहित देश से निष्कासित किया जा सकता है और अधिकतम दण्ड दिया जा सकता है[१]।

मनु की अपेक्षा याज्ञवल्क्य ने राजा की निरंकुशता पर अधिक रोक लगाई है। याज्ञवल्क्य ने राजा को अकेले ही कानूनों का स्रोत नहीं माना।

राजा को पिता के समान प्रजा का पालन करना चाहिये। न्याय करना और दुष्टों का दमन करना उसका कर्त्तव्य है। उसको ध्यान रखना चाहिये कि सरकारी अधिकारी प्रजा का शोषण न करें[२]।

(vii) मन्त्रि परिषद् -

राजा अकेला शासन के भार को नहीं सम्भाल सकता। अतः वह सहायकों की नियुक्ति करता है। मनु ने इनको सचिव कहा है और याज्ञवल्क्य ने मन्त्री। मनु का कथन है कि राजा का यह कर्तव्य है कि वह कुलक्रमागत, शास्त्रों के ज्ञाता, शूर, शस्त्रों के प्रयोग में कुशल, कुलीन और परीक्षित, सात-आठ सचिवों की नियुक्ति करे। इन सचिवों की सहायता से वह शासन करे[३]।

राजा को चाहिये कि वह षाड्गुण्य के ज्ञाता मन्त्रियों के साथ एकान्त में मन्त्रणा करे। मन्त्रियों के लिये विभिन्न विभागों की अध्यक्षता के आदेश स्मृतिकारों ने दिये हैं। जैसे - युद्ध, शान्ति, करग्रहण, आन्तरिक सुरक्षा, सार्वजनिक निर्माण, दान, खान, परराष्ट्र सम्बन्ध आदि। राष्ट्र और कोष को राजा सीधे अपने अधीन रखे।

(viii) अन्य राजकीय कर्मचारी-

शासन के संचालन के लिये मनु ने विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति का परामर्श दिया है। ये कर्मचारी ईमानदार, उपधाविशुद्ध, चरित्रवान्, बुद्धिमान्, व्यवहार में निपुण और अपने कार्यों में कुशल होने चाहियें। सरकारी कर्मचारियों को युक्त और विभागाध्यक्षों को महामात्र कहा गया है[४]। दूत की नियुक्ति के सम्बन्ध में विशेष योग्यतायें कहीं गई हैं - अनुरक्त, शुद्ध, चतुर, स्मृतिशील, देश और काल को जानने वाला, रूपवान्, वाग्मी, निर्भय, शास्त्रों का ज्ञाता, कार्यकुशल और अवसर न चूकने वाला[५]।

---

१. के०पी० जायसवाल : मनु एण्ड याज्ञवल्क्य पृ० ९७-९८।। २. मनुस्मृति ७,३१-३६ ।।
३. वही ७.५४।। ४. वही ९.२५९।। ५. वही ७ ६४।।

Scanned by CamScanner

(ix) शासन व्यवस्था -

शासन-व्यवस्था के लिये राज्य के क्षेत्रों के विभाजन की व्यवस्था है। राष्ट्र के पुर और ग्राम ये दो मुख्य विभाग थे। पुरों के निवासी पौर और ग्रामों के निवासी जानपद कहलाते। 'मनुस्मृति' में एक ग्राम, दस ग्राम, २० ग्राम, १०० ग्राम, एक हजार ग्राम, इस प्रकार से संगठन की व्यवस्था कही गई है। इनके अध्यक्ष क्रमशः ग्रामिक, दशग्रामिक, विंशती, शती और सहस्राधिप कहे गये हैं। पुर या नगर के अधिकारी को सर्वार्थचिन्तक कहा गया है।

(x) दुर्ग -

पुरों (नगरी) की स्थापना दुर्गों के रूप में होती थी। दुर्ग छः प्रकार के होते हैं। ये हैं - धन्वदुर्ग, महीदुर्ग, जलदुर्ग, वार्क्षदुर्ग, नृदुर्ग और गिरिदुर्ग। इनमें गिरिदुर्ग सर्वश्रेष्ठ है। राजा को दुर्ग में रहना चाहिये। वह सभी साधनों से सम्पन्न होना चाहिये। दुर्ग का आश्रय लेने से एक धनुर्धारी १०० आक्रमणकारियों के साथ और १० धनुर्धारी १००० आक्रमणकारियों के साथ सफलता से युद्ध कर सकते हैं और उनको रोक सकते हैं।

(xi) न्याय व्यवस्था -

न्याय करना राजा का परम धर्म है। न्यायपूर्ण व्यवहार से दण्ड का प्रयोग करके राजा कीर्ति को प्राप्त करता है[1]। दण्ड के अभाव में मर्यादायें छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और प्रजा में असन्तोष उत्पन्न होता है। दण्ड पांच प्रकार के होते हैं - धिग्दण्ड वाग्दण्ड, धनदण्ड, निर्वासन और प्राणदण्ड। अपराध के अनुसार सोच-समझ कर दण्ड देना चाहिये[2]।

मनु ने न्याय की व्यवस्था को व्यवहार कहा है। वे विवादों का वर्गीकरण १८ वर्गों में करते हैं-

(१) ऋणादान - ऋण लेकर न देना ।
(२) निक्षेप - धरोहर को न लौटाना
(३) अस्वामिविक्रय - किसी अन्य की वस्तु को बेच लेना।
(४) संभूय समुत्थान - सामूहिक रूप से मिल कर मारपीट करना।
(५) दत्तस्य अनपकर्म - दान में दी गई वस्तु को वापिस लेना
(६) वेतनस्य अदानम् - वेतन न देना या निर्धारित वेतन से कम देना
(७) संविद्व्यतिकम - प्रतिज्ञा का पालन न करना
(८) क्रयविक्रयानुशय - खरीद-बेच के झगड़े
(९) स्वामिपालविवाद - पशुस्वामियों और पशुपालकों के झगड़े
(१०) सीमाविवाद - कृषि-भूमि, गृह आदि के सीमा सम्बन्धी झगड़े
(११) वाक्पारुष्य - गाली-गलौच करना
(१२) दण्डपारुष्य - मारपीट करना
(१३) स्तेय - चोरी करना

---

१. मनुस्मृति ७।१४-३३।। २ याज्ञवल्क्य स्मृति - आचाराध्याय - ३६८।।

Scanned by CamScanner

(१४) साहस - डाका डालना
(१५) स्त्रीसंग्रहण - परस्त्री का अपहरण या व्यभिचार
(१६) स्त्रीपुंधर्म - स्त्री-पुरुष के बंटवारे के झगड़े और मर्यादा का उल्लंघन
(१७) विभाग - पैतृक सम्पत्ति के बंटवारे के झगड़े
(१८) द्यूतसमाह्वय - जुये सम्बन्धी झगड़े

न्याय करने के लिये राजा विशेष न्यायाधिकारी नियुक्त करता है। वे धर्म और विधि के अनुसार न्याय करते हैं। अभियोगों की सिद्धि के लिये साक्ष्य तीन प्रकार के हैं - मौखिक, लिखित और दैवी। भुक्ति एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण है। यदि कोई व्यक्ति १० वर्ष तक किसी वस्तु का भोग करता है, तो मध्य में किसी की आपत्ति न होने पर वह उसका स्वामी माना जाता है।

याज्ञवल्क्य ने चार प्रकार के न्यायालयों का वर्णन किया है -

(१) न्यायसभा या धर्मसभा। इसमें राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी विवादों का निर्णय करते हैं।
(२) पूग
(३) श्रेणी
(४) कुल

अन्तिम तीन प्रकार के न्यायालय एक प्रकार की पंचायतें हैं। ये अपनी लोकपरम्पराओं के अनुसार न्याय करती हैं। मनु ने कुलधर्म, श्रेणीधर्म, गणधर्म जातिधर्म और देशधर्म को व्यवहारों के निर्णय में मान्यता दी है। राजा इनका रक्षक है[१]।

न्याय की व्यवस्था में स्मृतिकारों ने ब्राह्मणों के प्रति पक्षपात किया है। ब्राह्मणों को विशेष अधिकार प्राप्त हैं। वे महान् अपराध करने पर भी दण्ड से बाहर हैं। परन्तु मनु की अपेक्षा याज्ञवल्क्य ने शूद्रों के समता और स्वतंत्रता के अधिकार को स्वीकार किया है[२]।

(xii) आय के साधन –

राज्य के कार्य धन के विना पूरे नहीं होते, अत: स्मृतिकारों ने करों के द्वारा राजकीय आय के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। मनु का कथन है कि राजा को प्रजा से थोड़ा थोडा करके वार्षिक कर लेना चाहिये। अधिक कर लेने से प्रजा का नाश होता हैं और न लेने से राजा का विनाश होता हैं[३]। कर लेने का मुख्य उद्देश्य प्रजा का रक्षण है।

मनु ने करों की विभिन्न दरों को निर्धारित किया था। कृषि की उपज से, व्यापारिक वस्तुओं से, वन्य वस्तुओं से, खनिज वस्तुओं के उत्पादन से और कारीगरों से विभिन्न अनुपातों में कर लिये जाते थे। इसका विस्तृत विवरण आगे के अध्यायों में है। असमर्थ व्यक्ति करमुक्त होते थे। मनु ने अनेक प्रकार के करों का वर्णन किया है - तरणकर, पशुकर, आकरकर, शिल्पीकर, कृषिकर, वन्योपजकर आदि।

---

१. मनुस्मृति ७.२२१।। २. के०पी० जायसवाल : मनु एण्ड याज्ञवल्क्य पृ० ८५-९२
३. मनुस्मृति ७.१२९, १३९।।

Scanned by CamScanner

राजकीय आय के अन्य साधन थे - बलि, शुल्क और अर्थदण्ड। विशेष अवसरों पर राजकोष के लिये प्राप्त किया जाने वाला और भेंट में प्राप्त धन बलि था। व्यापारियों से प्राप्त लाभांश शुल्क था। अर्थदण्ड से प्राप्त द्रव्य भी राजकोष में जमा होते थे।

(xiii) राजशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्त :–

मनु और याज्ञवल्क्य ने राजशास्त्र सम्बन्धी नीतियों का विशद निर्देश किया है। इनका पालन अपने देश की सुव्यवस्था और परराष्ट्र सम्बन्धों में विशेष रूप में किया जाना चाहिये। ये नीतिया वर्तमान समय में भी उपयोगी हैं। मुख्य रूप से ये निम्न हैं -

(१) चार उपाय - साम, दान, दण्ड और भेद

(२) षाड्गुण्य - सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव

(३) सप्तांग - स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, सेना (दण्ड) और मित्र

(xiv) युद्ध -

मनु ने युद्धों के नियमों का विशद वर्णन किया है। युद्ध राजा का धर्म है। युद्धों में सेना का महत्त्व सबसे अधिक है। सेना पांच प्रकार की होती है - रथ, हस्ति, अश्व, पदाति और नौ सेना। इसका छठा अंग भारवाहक, श्रमिक आदि हैं। युद्ध की घोषणा जल-वायु और समय को देख कर करनी चाहिये। सेना के प्रस्थान से पूर्व पुर और राष्ट्र की रक्षा का समुचित प्रबन्ध होना चाहिये, गुप्तचरों की नियुक्ति होनी चाहिये और मार्गों का निरीक्षण करना चाहिये। सैन्य संचालन के लिये विविध व्यूहों - दण्डव्यूह, शकटव्यूह, मकरव्यूह, सूचीव्यूह, गरुडव्यूह, और पद्मव्यूह का निर्देश मनु ने किया है। शत्रु को निर्बल बनाने के लिये कर्षण और उत्पीडन को मनु ने उचित बताया है।

मनु के अनुसार युद्धों में समर्थ योद्धा को अपने अनुरूप समर्थ योद्धा से युद्ध करना चाहिये। छल-कपट से शत्रु का वध करना उचित नहीं है। किसी प्रकार से असमर्थ शत्रु योद्धा पर प्रहार नहीं करना चाहिये। स्त्रियों, बालकों, वृद्धों और नपुंसकों पर प्रहार नहीं करना चाहिये। युद्धों में नृशंसता भी उचित नहीं है।

विजित शत्रु का धन लूटने में मनु ने कोई बुराई नहीं देखी। लूट के माल के दो भाग किये गये। कुछ विशेष द्रव्य राजकोष को ही प्राप्त होते हैं। दूसरी श्रेणी का माल सभी सैनिकों को वितरित कर दिया जाता है। पराजित राजा के प्रति सदाशय होने का मनु का निर्देश है। उसके राज्य का अपहरण न करके उसके वंश के ही सुयोग्य व्यक्ति को राज्य देकर मित्रता कर लेनी चाहिये।

३. महाभारत

भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य में 'महाभारत' एक ऐसा महान् काव्य ग्रन्थ है, जिसमें प्राचीन भारत का सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान निहित है। प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारों और प्रशासनिक संस्थाओं के अध्ययन हेतु इस काव्य ग्रन्थ की महती उपयोगिता है। 'महाभारत' के सभी पर्वों में यद्यपि सामान्य रूप से राजधर्म का वर्णन है, तथापि इस सम्बन्ध में शान्तिपर्व अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें शरशय्या पर पड़े हुये भीष्म ने युधिष्ठर आदि के समक्ष राजनीति का उपदेश दिया था। शान्तिपर्व में दण्डनीति, राजधर्म,

Scanned by CamScanner

शासनपद्धति, करव्यवस्था न्यायप्रणाली आदि विषयों पर महाभारतकार ने भीष्म के माध्यम से अपने विचार प्रकट किये है।

'महाभारत' की रचना के समय को निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। भारतीय परम्पराओं के अनुसार 'महाभारत' की रचना कलियुग के प्रारम्भ से कुछ पूर्व द्वापर युग के अन्तिम समय में हुई थी। कहा जाता है कि महर्षि व्यास ने 'जय' नामक काव्य की रचना की थी। इसमें ८००० श्लोक थे। इस कथा को शुक ने जनमेजय को नागयज्ञ के अवसर पर सुनाया था। उन्होंने इसका विस्तार किया और उस समय इसमें २५००० श्लोक हो गये। अब इसका नाम 'भारत' हुआ। यहां अनेक ऋषियों ने इसको सुना था। इनमें सौति ऋषि ने इस कथा को नैमिषारण्य में अन्य ऋषियों को सुनाया तथा इसका और अधिक विस्तार किया। अब इसमें एक लाख श्लोक हो गये और इसका नाम 'महाभारत' हुआ। इसका अभिप्राय यह है कि भारतीय परम्पराओं के अनुसार वर्तमान एक लाख श्लोकों वाले 'महाभारत' की रचना जनमेजय के समय तक, जो द्वापर युग के अन्त और कलियुग के प्रारम्भ से पूर्व का समय था हो चुकी थी।

परन्तु वर्तमान युग के समालोचक इस बात को मामले के लिये तैयार नहीं हैं। उनका कथन है कि 'महाभारत' एक महान् संग्रह काव्य है। शताब्दियों तक इसमें श्लोकों की संख्या जुड़ती रही। 'महाभारत' का वर्तमान रूप गुप्त काल में (तीसरी-पांचवी शताब्दी ई०) पूरा हुआ था। इस प्रकार 'महाभारत' का बहुत सा अंश मौर्य काल से पहले का है और बहुत सा अंश मौर्य युग के पश्चात् गुप्त काल तक लिखा गया।

'महाभारत' में राजनीतिक विचारों को मुख्य रूप से भीष्म के द्वारा कहलवाया गया है। अत: इसको भीष्म की विचारधारा भी कहा जा सकता है। राजनीतिक विचारों का इतिहास भी इसी प्रकार से शताब्दियों का कहा जा सकता है। यह मौर्य काल से पहले से लेकर गुप्त युग तक चला गया है। 'महाभारत' के राजनीतिक विचारों और प्रशासनिक संस्थाओं के रूप को संक्षेप से निम्न प्रकार से लिखा जा सकता है -

(i) शासन का उद्भव -

शासन के उद्भव के सम्बन्ध में 'महाभारत' के शान्ति पर्व में भीष्म ने जो कहा है, उससे दो सिद्धान्त अभिव्यक्त होते हैं - दैवी सिद्धान्त और अनुबन्ध का सिद्धान्त।

(क) दैवी सिद्धान्त –

भीष्म ने युधिष्ठिर को कहा कि सत्य युग में न तो कोई राजा था और न राज्य। सब लोग धर्म का पालन करते हुये एक दूसरे की रक्षा करते थे[1]। परन्तु वह स्थिति अधिक समय तक नहीं बनी रही। धर्म का लोप हो गया और परस्पर कलह होने लगा। यज्ञ आदि धार्मिक कार्य नष्ट हो गये। तब देवता ब्रह्मा की शरण में गये। देवताओं की प्रार्थना को सुनकर ब्रह्मा ने एक लाख अध्यायों वाले दण्डनीति शास्त्र की रचना की[2]।

---

१. महाभारत शान्तिपर्व १४.५९।। २. वही २२.५९।।

Scanned by CamScanner

तदनन्तर उन्होंने अपने मानस पुत्र विरजस् को राजा बनाया और उस दण्डनीति शास्त्र के अनुसार शासन करने का आदेश दिया।

महाभारतकार ने राजा को देवमय कहा है। वह महान् देव है और नर का रूप धारण करके पृथ्वीतल पर विचरण करता है[१]। उसमें पांच देवों का अधिष्ठान है - अग्नि, आदित्य, मृत्यु, कुबेर और यम[२]। भीष्म ने व्यवस्था दी कि धर्मपरायण राजा ही मनुष्यों का देव और राजा है[३]।

(ख) अनुबन्ध का सिद्धान्त -

मात्स्य न्याय से पीड़ित मनुष्यों ने[४] मिल कर सदाचरण सम्बन्धी नियम बनाये। परन्तु किसी सत्ता के न होने से वे विधि न बन सके। तब वे ब्रह्मा की शरण में गये। ब्रह्मा के कहने पर उन्होंने मनु को अपना राजा बनाया[५]। मनु ने जनता से अनुबन्ध किया कि वे अनुशासन में रहेंगे और राज्य को विविध कर देंगे। जनता ने राजा को उतना ही अधिकार दिया, जो शासन कार्य के लिये आवश्यक था[६]। अधिकारों का दुरुपयोग करने पर राजा को पदच्युत किया जा सकता था।

(ii) राज्य के अवयव –

भीष्म ने राज्य को सप्तांग कहा है। ये अंग हैं - आत्मा (राजा), अमात्य, कोष, दण्ड (सेना), मित्र, जनपद (राष्ट्र) और पुर (राजधानी)[७]।

(iii) राजा -

भीष्म ने राज्य के महत्त्व को असन्दिग्ध रूप से प्रतिपादित किया है। राजा के भय के कारण लोक में सुव्यवस्था रहती है[८]। मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता। राजा के होने पर ही लोक की स्थिति रहती है, अतः राजा का महत्त्व और उसकी आवश्यकता निर्विवाद है[९]।

प्रजा की रक्षा के लिये राजा दण्ड को धारण करता है। परन्तु वह स्वेच्छाचारी नहीं है। राजधर्म की मर्यादा का उल्लंघन करने पर वह दण्ड का भागी है। राजा को पराक्रमी सत्यवादी, क्षमाशील, इन्द्रियजयी, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष में रत, दानशील, युद्धविद्या में प्रवीण, ज्ञानी और उदार होना चाहिये। उसको सात व्यसनों - मृगया, मद्यपान, द्यूत, स्त्रियों के प्रति आसक्ति, वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य और अर्थदूषण से बचना चाहिये। महाभारतकार ने राजा के निम्न कर्तव्य निर्धारित किये हैं -

---

१. न जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण संस्थिता।। महा० शान्ति० ६८.४०
२. वही ४१.६८, ६७.४०-४२।। ३. वही ४.९०।।
४. वही २०.६७।। ५. वही २१.६७।। ६. वही अध्याय २३,२४,२५.४७।।
७. वही ६४-६५।। ८. वही ८.६८।।
९. वही ३७.६८।।

Scanned by CamScanner

(१) वर्णाश्रम धर्म की रक्षा और सुसंचालन
(२) प्रजा का रक्षण
(३) प्रजा को न्याय प्रदान करना
(४) राजकर्मचारियों की नियुक्ति
(५) राजकार्यों का निरीक्षण
(६) अर्थिक समृद्धि और प्रजा के कल्याण को प्रोत्साहन
(७) सार्वजनिक हित की देखभाल
(८) विघातक व्यवसायों की रोकधाम, जैसे, मद्यशाला, द्यूतगृह आदि।

राजा को चाहिये कि अपने पर नियन्त्रण रख कर लोक के रंजन के कार्यों में संलग्न रहे। उत्तम राजा के राज्य में प्रजाजन उसी प्रकार निर्भय घूमते हैं, जैसे कि पिता के घर में पुत्र[१]।

महाभारतकार ने राज्य के उत्तराधिकारी के रूप में आनुवंशिकता को प्रधानता दी है। सामान्यत: राजा का ज्येष्ठ पुत्र उसका उत्तराधिकारी होता था। परन्तु ज्येष्ठ पुत्र के उपयुक्त न होने और राजयोग्य गुणों से रहित होने पर छोटे भाइयों को उत्तराधिकार दिया जा सकता था। उत्तराधिकार को जनता द्वारा अनुमति देने की बात भी कही गई है। उत्तराधिकार को स्वीकृत करने वाली परिषद् में ३७ सदस्य होते थे - चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य और चार शूद्र[२]। अपने जीवन काल में ही राजा अपने उत्तराधिकारी के संकेत के रूप में युवराज की नियुक्ति करता था।

राज्य का उत्तराधिकार स्वीकृत होने पर राज्यभिषेक के कार्यों का सम्पादन किया जाता था। इस समय विविध प्रकार के समारोह होकर युवराज की नियुक्ति के साथ ही अन्य मन्त्रियों और प्रमुख राज्यधिकारियों की भी नियुक्ति की जाती थी। 'महाभारत' के सभापर्व में युधिष्ठिर के राज्याभिषेक का विस्तृत वर्णन है। इससे राज्याभिषेक की प्रक्रिया का बोध होता है।

(iv) मन्त्रिपरिषद् और राजकर्मचारी –

महाभारतकार का मत है कि राजा कितना भी गुणी और समर्थ क्यों न हो, अकेले शासन नहीं कर सकता। अत: वह विविध विषयों के ज्ञाता अनुभवी और सदाचारी मन्त्रियों की नियुक्ति करता है। वे मन्त्री, कुलीन, स्वदेशज, रूपवान्, बुद्धिमान्, बहुश्रुत, प्रगल्भ और अनुरक्त होने चाहियें।

मन्त्रि-परिषद् की नियुक्ति में 'महाभारतकार' ने वर्णों का प्रतिनिधित्व स्वीकार किया है। इनमें चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य और तीन शूद्र तथा एक सूत होता है। वैश्यों की सर्वाधिक संख्या का कारण यही हो सकता है, क्योंकि जनता में इनकी संख्या सबसे अधिक रही होगी।

---

१. पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवा:।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तम:।। महाशान्ति० ५७.३३।।

२. महा०शान्ति० ८५.७-९।।

Scanned by CamScanner

भीष्म ने इस बड़ी मन्त्रि-परिषद् के साथ ही एक छोटी अन्तरंग समिति रखने की बात भी कही है। इसमें कम से कम तीन सदस्य होने चाहियें[1]। इस समिति से परामर्श लिये विना राजा को कोई कार्य नहीं करना चाहिये।

मन्त्रि-परिषद के अतिरिक्त राजगुरु या राजपुरोहित को नियुक्त करने का भी प्रावधान है। राजधर्म की रक्षा के लिये पहले पुरोहित को नियुक्त किया जाना अनिवार्य है[2]। राजा को चाहिये कि किसी कार्य पर पहले राजगुरु से परामर्श करे और उसके बाद उसको मन्त्रि-परिषद् में प्रस्तुत करे।

राजकीय कार्यों के संचालन करने के लिये विविध राजकर्मचारियों की आवश्यकता होती है। वे कार्य एक या दो व्यक्तियों से नहीं हो सकते। राजकर्मचारियों की उत्तम व्यवस्था करना राजा का ही कर्तव्य है। जो व्यक्ति जिस पद के योग्य हो, उसको उसी पद पर नियुक्त किया जाना चाहिये। मूर्ख, क्षुद्र, बुद्धिहीन, इन्द्रियलोलुप, और दुष्कुल के पुरुषों को नियुक्त किया जाना उचित नहीं है[3]। सज्जन, कुलीन, ज्ञानी, परनिन्दा न करने वाले, पवित्र और दक्ष पुरुष को नियुक्त करना चाहिये[4]।

(v) विधि-निर्माण –

महाभारतकार ने विधि के, राजकीय नियमों के निर्माण के लिये उत्तम मार्ग का निर्देश किया है। इससे समुचित्त न्याय-व्यवस्था होगी और सबके साथ समान व्यवहार होगा। भीष्म के अनुसार विधि के स्रोत चार हैं - ब्रह्मा, ऋषि, लोक और संस्था।

सबसे प्रथम ब्रह्मा ने विधि की रचना की। देवताओं की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने एक लाख अध्यायों वाले दण्डनीति शास्त्र को बनाया। इसमें मनुष्यों के कल्याण के लिये नियमों को निर्धारित किया गया। देश-काल और परिस्थितियों के अनुसार ऋषियों ने विधि के रूप में नियमों को बनाया था। उन्होंने प्रायश्चित्तों का भी विधान किया था। ऋषियों ने कहा कि विधि सम्बन्धी संशय उत्पन्न होने पर वेदशास्त्रों को और धर्मज्ञ विद्वानों को प्रमाण मानना चाहिये[5]। शान्तिपर्व में विधिनिर्माता कुछ ऋषियों के नाम हैं[6]।

विधि के निर्माण में लोक-परम्पराओं का भी महत्त्व था। मात्स्य न्याय से बचने के लिये लोक ने ही राजा का वरण किया था। अत: लोक-परम्पराओं की रक्षा आवश्यक थी। प्राचीन शासन-व्यवस्था में शासन के विकेन्द्रीकरण को मान्यता दी गई थी। अत: अनेक स्थानीय संस्थाओं का उदय होकर, उनके नियम लोक और आम जनता को परिचालित करते रहे। विविध समुदायों की प्रथाओं और परम्पराओं को राजकीय वैधता प्रदान की गई थी। कुलधर्म, जातिधर्म और देशधर्म मान्य थे[7]।

---

१. महा०शान्ति० ४७.८३।। २. वही ७२.१५-१६, ७३.२९।। ३. बही ८.११९।।
४. वही ९.११९।। ५. वही २०.३६।। ६. वही २३.५८।।
७. (क) परमात्माशरण मित्तल : प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थायें पृ० १३९
(ख) श्यामलाल पाण्डेय : भारतीय राजशास्त्रप्रणेता पृ० ८९-९१

Scanned by CamScanner

(vi) कोष -

महाभारतकार ने राज्य के सात अंगों में कोष को अति महत्त्वपूर्ण माना है। राज्य का मूल कोष और सेना है तथा सेना का भी मूल कोष है। राजाओं को सचेष्ट होकर कोष की वृद्धि करनी चाहिये। कोष के संचय और वृद्धि के लिये प्रजा से कर लिया जाता है। इसको प्रजा के हित के लिये ही व्यय किया जाना चाहिये।

कोष की वृद्धि के लिये राजा स्वच्छन्द नहीं है। प्रजा से कर उसी प्रकार लेने चाहियें, जैसे कि भ्रमर पुष्पों से मधु लेता है और बछड़ा मां का दूध पीता है[1]। करारोपण के सम्बन्ध में महाभारतकार ने निम्न प्रकार से सिद्धान्तों को प्रतिपादन किया है –

(१) **प्रजा-परिपुष्टि का सिद्धान्त** – कर लगाने से पूर्व प्रजा को सम्पन्न और समृद्ध बनाना चाहिये।

(२) **व्यथामुक्त सिद्धान्त** – कर लगाने में प्रजा को व्यथा का अनुभव न हो।

(३) **लाभ पर कर का सिद्धान्त** – मूल धन पर कर न लगा कर लाभ पर कर लगाना चाहिये।

(४) **अधिक कर का निषेध** – प्रजा की सामर्थ्य से अधिक कर नहीं लगाना चाहिये।

(५) **प्रजारक्षण सिद्धान्त** - कोष-संचय का उद्देश्य प्रजा की रक्षा करना है।

(६) **वेतन सिद्धान्त** - राजा को प्रजा का वेतनभोगी कहा गया है।

(७) **शनैः शनैः करवृद्धि** - करों की वृद्धि शनैः शनैः की जानी चाहिये।

(८) **आपातकालीन करवृद्धि** - आपत्ति काल में कोष के रिक्त होने पर विशेष कर लगाया जा सकता है।

कोष की वृद्धि के लिये भीष्म ने जिन विविध करों को लगाने का निर्देश किया है, उनमें मुख्य निम्न हैं -

(१) **बलि** - कृषि की उपज पर कर। उपज का छठा भाग

(२) **पशुकर** - पशुओं की बिक्री पर लाभ का पचासवां भाग

(३) **शुल्क** - व्यापारिक वस्तुओं पर विक्रय और लाभ पर कर

(४) **आकरकर** - खनिज पदार्थों पर लगाया जाने वाला कर। लाभ का पचासवां लाभ।

(५) **दण्ड** - विविध अपराधों पर दिया गया अर्थदण्ड

(६) **लवण कर** - नमक पर लगाया जाने वाला कर

(७) **सन्तरण कर** - जलस्थानों पर सेतुओं को पार करने पर कर

(८) **हिरण्य कर** - स्वर्ण पर लगाया जाने वाला विशेष कर

(vii) पुर और जनपद -

शासन के लिये राज्य के दो विभाग किये गये थे - पुर और जनपद। पुर वह भाग है, जो केन्द्रीय या प्रान्तीय राजधानियों के रूप में है। शेष भाग जनपद है।

---

१. मधुदोहं दुहेद् राष्ट्रं भ्रमरा इव पादपम्।
वत्सापेक्षी दुहेच्चैव स्तनांश्च न विकुट्टयेत्।। महा०शान्ति० ८८.४।।

Scanned by CamScanner

पुर की रचना दुर्ग के रूप में करनी चाहिये। देश-काल के अनुसार दुर्ग छः प्रकार के हो सकते हैं - धन्वदुर्ग, महीदुर्ग, गिरिदुर्ग, मनुष्यदुर्ग, मृत्तिकादुर्ग और वनदुर्ग[1]। शासन के संचालन के लिये पुर में सभी साधनों को जुटाना चाहिये। पुरों के शासन के लिये सर्वार्थचिन्तक की नियुक्ति की जाती थी।

जनपद का शासन ग्रामों में संगठित था। इसके लिये एक ग्राम, दस ग्राम, बीस ग्राम और हजार ग्रामों के समूह संगठित होते थे। 'महाभारत' में यह वर्णन 'मानव धर्मशास्त्र' के समान है।

(viii) अन्तर्राज्य सम्बन्ध -

महाभारतकार ने अन्तर्राज्य सम्बन्धों का विस्तार से वर्णन किया है। सामान्यतः उस युग का प्रत्येक शक्तिशाली राजा चक्रवर्ती सम्राट् बनने की कल्पना करता था। वह अन्य राज्यों में गुप्तचर भेज कर उनकी आन्तरिक अवस्था, शक्ति और निर्बलताओं को जान कर उन पर आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न करता था। भारतीय राजशास्त्र का षाड्गुण्य सिद्धान्त प्राचीन भारत की परराष्ट्र अथवा अन्तर्राज्य सम्बन्धों की नीति का आधार रहा था। परन्तु अन्य राज्यों को जीत कर भी उनसे मित्रता के सम्बन्ध स्थापित करने के निर्देश दिये गये थे। चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित करने के हेतु अश्वमेध और राजसूय यज्ञ करने का विधान 'महाभारत' में है। इन्द्रप्रस्थ के राज्य को सुस्थिर करके पाण्डवों ने राजसूय यज्ञ किया था और कुरुक्षेत्र युद्ध को जीत कर हस्तिनापुर पर अधिकार करके अश्वमेध यज्ञ का सम्पादन किया था।

भीष्म ने राजा के चार प्रकार के मित्रों का वर्णन किया है - सहार्थ, भजमान, सहज और कृत्रिम। इनमें भजमान और सहज मित्र श्रेष्ठ है। सहार्थ और कृत्रिम मित्रों से राजा को सावधान रहना चाहिये।

शत्रु के बल की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। शत्रु का बल बढ़ने से पहले ही उसको नष्ट कर देना उचित है। प्रबल शत्रु के प्रति ऊपर से प्रेम का व्यवहार करके उसके मन को जीते और अवसर पाने पर उसको नष्ट कर दे। शत्रु यदि बालक या वृद्ध हो, तो भी उसको कमजोर न समझे। प्रबल वैरी को बुद्धि के बल से नष्ट किया जा सकता है।

(ix) दूत और गुप्तचर -

शासन में अपने राज्य के और बाहर के राज्यों के समाचार जानने के लिये दूतों और गुप्तचरों की नियुक्ति की जाती थी। दूत को कुलीन, वाग्मी, प्रियवक्ता, दक्ष, सत्यवादी और स्मृतिशील होना चाहिये[2]। सरकारी सेवकों, सामन्तों और जनता के मनोभावों को जानने के लिये गुप्तचरों को नियुक्ति की जाती थी। अन्य राज्यों की शक्ति, निर्बलता, शत्रु-मित्र भाव आदि को जानने के लिये विशेष योग्य गुप्तचर नियुक्त होने चाहियें। महाभारतकार ने दूत को अवध्य कहा है[3]।

---

१. महाभारत शान्तिपर्व ५.८६।। २. वही ८५.२५-२९।। ३. वही २७.८५।।

Scanned by CamScanner

(x) गणतन्त्र –

'महाभारत' की शासन-व्यवस्था राजतन्त्री होने पर भी उस समय गणराज्य अवश्य विद्यमान थे। भीष्म ने शान्तिपर्व में इनकी व्यवस्था का कुछ संकेत दिया है। गणराज्यों की वृद्धि और उन्नति के कारणों को भीष्म ने शान्तिपर्व के ४०-४२ अध्यायों में विस्तार से बताया है। इन राज्यों में जाति और कुल की दृष्टि से सभी समान समझे जाते थे[१]। गणराज्यों में राजा का स्थान नहीं था। परन्तु किसी का विशेष अधिकार न होने से मन्त्रणाओं को गुप्त रखने में कठिनाई होती थी। इसके अतिरिक्त विभिन्न पदों के लिये संघर्ष होने से परस्पर भेद का उत्पन्न होना गणराज्यों के पराभव का कारण हो जाता था। इन राज्यों में शासन का संचालन गण-प्रधान करते थे और राज्य के अधिकारी वंशपरम्परागत नहीं थे।

जनसंख्या और क्षेत्र के विस्तार की दृष्टि से गणराज्य छोटे-छोटे होते थे। अतः आक्रमण के भय से अनेक गणराज्य मिल कर अपना एक संघ बना लेते थे। अतः गणराज्यों की सुरक्षा और शक्ति उनके संघभूत रहने में ही थी[२]। भीष्म ने दो संघों का परिचय दिया है। पहला अन्धक-वृष्णि है[३]। दूसरा संघ अन्धक, वृष्णि, यादव, कुकुर और भोज इन पांच गणराज्यों का है[४]। इनकी स्थिति वर्तमान गुजरात में रही होगी।

संघों में प्रभुसत्ता उनकी सभा में थी। इनमें सभी गणराज्यों के प्रतिनिधि होते थे। यहां बहुमत के आधार पर निर्णय किया जाता था। 'महाभारत' में वर्णन है कि कृष्ण ने नारद के समक्ष गणराज्यों की कठिनाई का वर्णन किया था।

(xi) न्याय-व्यवस्था –

शासन का कर्तव्य है कि प्रजा के विवादों का विधि के अनुसार निर्णय करे। विधि के निर्माण के आधारों को पहले कहा जा चुका है। न्याय और दण्ड की व्यवस्था करना राजा का कर्तव्य था। अभियोगों को सुनने तथा उन पर निर्णय करने के लिये राजा को महान् अनुभवी पुरुषों की नियुक्ति करनी चाहिये[५]। राजा की दृष्टि में चाहे वे माता, पिता, भाई, पत्नी, पुरोहित या अन्य कोई स्नेही या महत्त्वपूर्ण व्यक्ति क्यों न हो, न्याय तुला पर समान हैं, अपराधी होने पर वे दण्डनीय हैं। उचित दण्ड की स्थापना करना राजा का धर्म है[६]।

(xii) युद्ध –

'महाभारत' मुख्य रूप से कौरवों और पांडवों के युद्ध का वर्णन करने वाला काव्य ग्रन्थ है। अतः इसमें युद्धों से सम्बन्धित विवरणों का विस्तार से होना स्वाभाविक है। युद्धों द्वारा विजय प्राप्त करने की कामना राजाओं में स्वभाव से थी ही। क्षत्रिय का धर्म ही युद्ध करना था। मारे जाने पर वह स्वर्ग को प्राप्त करता है और जीतने पर पृथिवी का भोग करता है। वीर क्षत्रिय की मृत्यु रोगी होकर शय्या पर नहीं, अपितु शस्त्रों के प्रहार से घायल होकर रणक्षेण में होती हैं।

---

१. महाभारत शान्तिपर्व १७.२८।। २. वही ३२.१०७।। ३. वही ८.२१।।
४. वही २९.८१।। ५. वही २८.६९।। ६. वही ३०.६९।।

Scanned by CamScanner

महाभारतकार ने युद्धों में नैतिक नियमों पर बहुत बल दिया है। समान बल और साधन वाले योद्धा से ही युद्ध करना चाहिये। धोखे से मारना उचित नहीं है। शस्त्रों का त्याग करने वाले, शरण में आये हुये, स्त्री, नपुंसक, बाल, वृद्ध, ब्राह्मण आदि पर आयुध उठाना अधर्म माना गया था।

भीष्म का सारा जीवन ही युद्ध करने में ही व्यतीत हुआ था। अतः वे युद्धों के दुष्परिणामों को जानते थे। युद्ध को उन्होंने विवशता का अन्तिम उपाय माना था। बृहस्पति को उद्धृत करते हुये भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा था कि राज्य के विस्तार की कामना से युद्ध करना उचित नहीं है। पहले साम, दान और भेद उपायों का अवलम्बन करना चाहिये[1]। युद्ध द्वारा प्राप्त विजय की भीष्म ने निन्दा ही की है[2]।

भीष्म ने प्रजा की रक्षा, धर्मपरायण जनों की रक्षा, शरणागत जनों की रक्षा जैसे हेतुओं के लिये ही युद्ध को विधिसम्मत माना था। वैरशोधन मात्र के लिये हजारों प्राणियों का वध करना न्यायसंगत नहीं है।

सेना के संगठन का 'महाभारत' में विस्तृत वर्णन है। सप्तांग राज्य का यह महत्त्वपूर्ण भाग है। सेना में आठ अंग होते हैं - रथारोही, गजारोही, अश्वारोही, पदाति, नौकारोही, विष्टि, चर और उपदेशक। चतुरंगिणी सेना के चार अंग हैं - रथारोही, गजारोही, अश्वारोही और पदाति। इनके संगठन का विस्तृत वर्णन सेना के प्रसंग में आगे किया गया हैं।

सेनायें व्यूहबद्ध होकर युद्ध करती थीं। 'महाभारत' में चक्रव्यूह आदि अनेक व्यूहों का वर्णन है। विविध शस्त्रों, सुरक्षा-साधनों और दुर्गों का उल्लेख 'महाभारत' में किया गया है।

भीष्म ने दो प्रकार के युद्ध कहे हैं - प्रकाशयुद्ध और अप्रकाशयुद्ध। प्रकाशयुद्ध में योद्धा और सेनायें आमने-सामने होकर युद्ध करते थे। अप्रकाश युद्ध में जंगम और अजंगम चूर्ण योग, विषयुक्त भोजन, विषयुक्त वस्त्र आदि का प्रयोग किया जाता था।

४. कौटिल्य

प्राचीन भारत के राजशास्त्र और प्रशासनिक संस्थाओं के इतिहास में कौटिल्य (चाणक्य) और उसके अर्थशास्त्र का स्थान महनीय है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो कौटिल्य के विना भारतीय राजशास्त्र अधूरा ही है।

कौटिल्य ने अपने से पूर्ववर्ती सभी राजशास्त्रकारों के मतों का संग्रह करके उनका सार अपने ग्रन्थ में प्रतिष्ठित किया था। उन्होंने इस लोक की सभी समस्याओं का समाधान कर यथार्थ को प्रस्तुत किया था। कौटिल्य सबसे पहले राजनीतिशास्त्र (दण्डनीति) विषयक ग्रन्थ के प्रणेता थे, जो स्वतन्त्र रूप से इसी विषय पर लिखा गया था। इससे पूर्व सूत्र-ग्रन्थों, स्मृतियों आदि में राजनीति के विषयों को अन्य विषयों के साथ ही लिखा जाता रहा था। भारतीय इतिहास में कौटिल्य ही सर्वप्रथम ऐसे आचार्य हुये, जिन्होंने भारतीयों

---

१. महाभारत शान्तिपर्व २३-२४ अध्याय।। २. वही १.९४।।

Scanned by CamScanner

को एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन प्रदान किया। इस कारण इस देश को बहुत लम्बी अवधि तक विदेशी आक्रमणों से मुक्ति प्राप्त हुई थी।

(i) कौटिल्य तथा उसके अर्थशास्त्र का परिचय -

कौटिल्य (चाणक्य) का नाम प्राचीन साहित्य में बहुत अधिक मिलता है। 'विष्णुपुराण' 'कथासरित्सागर', कामन्दकनीतिसार' आदि ग्रन्थों में कौटिल्य का नाम आया है। भारतीय परम्पराओं के अनुसार कौटिल्य ने अतिशक्तिशाली नन्द वंश का विनाश कर चन्द्रगुप्त मौर्य को राजा बनाया। चन्द्रगुप्त मौर्य ने भारतवर्ष के अधिकांश क्षेत्र को एक साम्राज्य के अन्तर्गत संगठित किया। उसने उत्तरपश्चिम में वर्तमान अफगानिस्तान से भी आगे तक के प्रदेश को जीत कर यूनानी क्षत्रपों को पराजित कर भारतीय सीमाओं को सुरक्षित और संगठित किया था।

कौटिल्य को विष्णुगुप्त और चाणक्य के नाम से भी जाना जाता था। कहा जाता है कि इनका नामकरण संस्कार का नाम विष्णुगुप्त था। ये चणक ऋषि के पुत्र होने के कारण चाणक्य कहलाये। कुटिल राजनीति का उपासक होने से उनका नाम कौटिल्य कहा गया । 'अर्थशास्त्र' में उन्होंने अपने को कौटिल्य कहा है। परन्तु टी.गणपति शास्त्री का कथन है कि यह नाम अशुद्ध है। शुद्ध रूप कौटल्य है। कौटलिय या कुटल गोत्र होने के कारण वे कौटल्य के नाम से प्रसिद्ध हुये थे।

भारतीय परम्पराओं के अनुसार 'अर्थशास्त्र' के प्रणेता वे ही कौटिल्य हैं, जो चन्द्रगुप्त मौर्य के आचार्य तथा प्रधानामात्य थे। चन्द्रगुप्त मौर्य का सिंहासनारोहण ३२१ ई०पू० में हुआ था। अत: कौटिल्य का समय ई०पू० चतुर्थ शताब्दी का मानना चाहिये। परन्तु अनेक आधुनिक विचारक इस बात को स्वीकार नहीं करते। कुछ पाश्चात्य विद्वानों - कीथ, विन्टरनिट्ज, जॉली, आदि का मत है कि 'अर्थशास्त्र' की बहुत सारी सामग्री मौर्यकाल के बाद की है। वर्तमान 'अर्थशास्त्र' की रचना तीसरी शताब्दी ई० में हुई थी। आर०जी० भण्डारकर ने इसको ई०पू० प्रथम शताब्दी का माना है। परन्तु अधिकांश आधुनिक भारतीय समालोचक और यूरोपीय समालोचक इसको चतुर्थ शताब्दी ई०पू० का ही मानते हैं। इनमें के०पी० जायसवाल, शामशास्त्री, गणपति शास्त्री, फ्लीट, स्मिथ आदि प्रमुख हैं। इनके अनुसार 'अर्थशास्त्र' के प्रणेता कौटिल्य ही चन्द्रगुप्त मौर्य के आचार्य और प्रधानामात्य थे।

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में १५ अधिकरण हैं और प्रत्येक अधिकरण अनेक प्रकरणों में विभक्त हैं। इनकी विषय-वस्तु निम्न है -

प्रथम अधिकरण - विनयाधिकार - राजा का सामान्य व्यवहार
द्वितीय अधिकरण - अध्यक्ष-प्रचार - विभिन्न विभाग और उनके अध्यक्ष
तृतीय अधिकरण - धर्मस्थीय - न्यायालय तथा न्यायप्रक्रिया
चतुर्थ अधिकरण - कण्टकशोधन - फौजदारी के मुकदमे
पंचम अधिकरण - योगवृत्त - राजा के प्रति राजकर्मचारियों के कर्तव्य
षष्ठ अधिकरण - मण्डलयोनि - शत्रु-राष्ट्रों को वश में करना

Scanned by CamScanner

सप्तम अधिकरण - **षाड्गुण्य** - सन्धि-विग्रह-यान-आसन-संश्रय-द्वैधीभाव
अष्टम अधिकरण - **व्यसनाधिकारिक** - राजा के व्यसन
नवम अधिकरण - **अभियास्यत्कर्म** - अन्य देशों पर अभियान
दशम अधिकरण - **सांग्रामिक** - युद्ध सम्बन्धी उपदेश
एकादश अधिकरण - **संघवृत्त** - संघ राज्यों में फूट डालने के उपाय
द्वादश अधिकरण - **अबलीयस** - दुर्बल राजा द्वारा प्रबल शत्रु के आक्रमण से बचने के उपाय
त्रयोदश अधिकरण - **दुर्गलम्भोपाय** - शत्रुओं के दुर्गों को जीतने के उपाय
चतुर्दश अधिकरण - **औपनिषदिक** - औषध और मन्त्रों का रहस्य, जादू-टोना
पंचदश अधिकरण - **तन्त्रयुक्ति** - अर्थशास्त्र के निर्णय की युक्तियां

'अर्थशास्त्र' में कौटिल्य ने दण्डनीति का उपदेश दिया है। दण्डनीति ही शासन को स्थिर रखती है और धर्म के मार्ग पर चलाती है। अलब्धलाभार्थ, लब्धपरिरक्षण, रक्षितविवर्धन तथा वृद्धेष्वर्थेषु प्रतिप्रदानम् - ये चार उद्देश्य दण्डनीति से ही पूरे होते हैं। राजा के प्रशिक्षण और प्रशासन पर यह ग्रन्थ अनुपम है।

(ii) शासन का उद्भव -

कौटिल्य के अनुसार शासन का उद्भव अनुबन्ध के सिद्धान्त पर हुआ था। मात्स्य न्याय से पीड़ित लोगों ने विवस्वान् के पुत्र मनु को अपना राजा बनाया[1]। उन्होंने निश्चय किया कि वे अन्न की उपज का १/६ भाग, व्यापार के लाभ का १/१० भाग और हिरण्य की आय का कुछ भाग कर के रूप में देंगे[2]। इस कर को प्राप्त करने का अधिकारी वही राजा होगा, जो प्रजा के कल्याण की समुचित व्यवस्था करेगा[3]। इससे स्पष्ट है कि राजा और प्रजा के मध्य शासन के सम्बन्ध में एक अनुबन्ध है।

(iii) अर्थशास्त्र की परिभाषा -

शासन का प्रबन्ध किस प्रकार हो, इसका उपदेश करके कौटिल्य ने अर्थशास्त्र की परिभाषा भी की है। मनुष्यों से भरी भूमि के लाभ और उसके पालन करने के उपायों का वर्णन अर्थशास्त्र में किया जाता है[4]। इसके अन्तर्गत आधुनिक राजशास्त्र और अर्थशास्त्र दोनों आ जाते हैं।

(iv) राज्य के अंग -

महाभारत' और 'मनुस्मृति' के अनुरूप कौटिल्य ने भी राज्य की सात प्रकृतियों (अंगों) को स्वीकार किया है। ये प्रकृतियां हैं - स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र। ये राज्य के सात अवयव हैं[5]।

---

१. अर्थशास्त्र ६.१३.१।। २ वही ७.१३.१।। ३. वही ९.१३१।।
४. वही १.१.६।। ५. वही १.८.६६।।

Scanned by CamScanner

(v) राजा

कौटिल्य प्रबल शक्तिशाली राजतन्त्र के समर्थक थे। राजा सर्वशक्तिमान् है। कार्यपालिका, न्यायपालिका और सेना का वह सर्वोच्च अध्यक्ष है। प्रजा की मात्स्य न्याय से वही रक्षा करता है। प्रजा के कल्याण के लिये वह दण्ड को धारण करता है। प्रजा के लिये वह आदर्श पुरुष है और सदाचार की मूर्ति है। अत: उसमें विशिष्ट गुण होने आवश्यक हैं। इनको आत्मसम्पत् या स्वामिसम्पत् कहते हैं। राजा के सम्बन्ध में निम्न तथ्य विचारणीय हैं -

(१) आत्मसम्पत् -

राजा को कुलीन, वृद्धों की सेवा करने वाला, धार्मिक, सत्यवादी, सत्यप्रतिज्ञ, धैर्यशाली, दूरदर्शी, कृतज्ञ, उच्चाकांक्षी, महोत्साही, क्षिप्रकारी, दृढ़बुद्धि, शास्त्रमर्यादापालक, समर्थ, सामन्तों से सेवित और सभा में उपस्थित रहने वाला होना चाहिये। ये आभिगामिक गुण हैं। शास्त्रों का श्रवण, ग्रहण, धारण, विज्ञान, तर्क-वितर्क, तत्त्वज्ञता, ये प्रज्ञा के गुण हैं। शौर्य, अमर्ष, क्षिप्रकारिता और दक्षता ये उत्साह गुण हैं। राजा को सार्थक बोलना चाहिये। वह प्रतिभा, स्मृति, बुद्धि और शारीरिक बल से सम्पन्न होता है। वह उन्नतचित्त, संयमी, निपुण, नीतिज्ञ, दीर्घदर्शी, सैन्य-संचालन में कुशल, सन्धिविग्रह में प्रवीण, त्यागी, कोषवर्धक, शत्रुछिद्रद्रष्टा, मन्त्रणा को गुप्त रखने वाला, काम आदि दोषों से रहित प्रियभाषी और वृद्धोपसेवी होता है। ये ही आत्मसम्पत् हैं। राजा के लिये इन्द्रियजयी होना आवश्यक है। काम, क्रोध, मद, लोभ, हर्ष और अभिमान ये छ: उसके प्रबल शत्रु हैं। इस प्रकार कहे गये गुणों से युक्त होकर राजा प्रजाजनों पर शासन करता है।

(२) राजा के अधिकार -

कौटिल्य ने राजा को सर्वप्रभुता सम्पन्न बनाया है। राज्यशासन और न्याय का वह अधिष्ठाता है। तथापि वह राज्य और धर्म की मूल मर्यादाओं से बंधा हुआ है। उसके विशेष अधिकार निम्न है[1] :-

(अ) राजा अदण्ड्य है।

(ब) वह करों से मुक्त है।

(स) किसी प्रजाजन का उत्तराधिकारी न होने पर वह उसकी सम्पत्ति का अधिकारी है।

(द) पृथिवी में गड़े हुये धन पर उसका अधिकार है।

(इ) न्यायालय में उसको साक्षी नहीं बनाया जा सकता ।

(फ) समाज में उसका स्थान सर्वोच्च है।

(३) राजा की रक्षा –

कौटिल्य ने राजा की सुरक्षा पर विशेष बल दिया है। राजभवन में तथा बाहर वह सदा खतरों से घिरा हुआ है। अत: उसकी अंगरक्षक और अंगरक्षिका सेना को सावधान रहना चाहिये।

Scanned by CamScanner

भोजन के प्रबन्ध में भी सावधानी रखना आवश्यक है। कोई उसको भोजन में विष न दे दे। प्रत्येक पदार्थ परीक्षित होकर ही उसको दिया जाना चाहिये।

(४) राजा की दिनचर्या -

कौटिल्य ने राजा की दिनचर्या का भी विस्तार से वर्णन किया है। दिन-रात के आठ-आठ प्रहरों के अनुसार उसको आचरण करना चाहिये। संक्षेप से उसकी दिनचर्या निम्न होनी चाहिये -

(i) दिन के पहले प्रहर में प्रजा की रक्षा का विधान और आय-व्यय का निरीक्षण
(ii) दूसरे प्रहर में न्यायासन कर बैठ कर न्याय करना
(iii) तीसरे प्रहर में स्नान, भोजन और स्वाध्याय
(iv) चौथे प्रहर में कर विभाग का निरीक्षण
(v) पांचवे प्रहर में मन्त्रि-परिषद् से मन्त्रणा
(vi) छठे प्रहर में इच्छा के अनुसार विहार
(vii) सातवें प्रहर में गज-अश्व-रथ-आयुध आदि का निरीक्षण
(viii) आठवें प्रहर में सेनापति के साथ पराक्रम सम्बन्धी चर्चा
(ix) रात्रि के प्रथम प्रहर में गुप्तचरों के साथ वार्तालाप
(x) दूसरे प्रहर में स्नान, भोजन और स्वाध्याय
(xi) तीसरे-चौथे-पांचवें प्रहरों में अन्त:पुर प्रवेश और शयन
(xii) छठे प्रहर में जागरण और अगले दिन के कार्यक्रम पर विचार
(xiii) सातवें प्रहर में गुप्त मन्त्रणा और गुप्तचरों का सम्प्रेषण
(xiv) आठवें प्रहर में स्वस्तिवाचन, आशीर्वादग्रहण, शरीर के सम्बन्ध में विचार और राजसभा में प्रवेश

(५) उत्तराधिकार -

कौटिल्य ने सामान्यत: ज्येष्ठ पुत्र को उत्तराधिकारी माना है। परन्तु वह आत्मसम्पत् से युक्त होना चाहिये[१]। प्रथम ऐसे पुत्र को युवराज या सेनापति के पद पर नियुक्त करना चाहिये[२]। राजा का कुलीन पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी हो सकता है। योग्य होने पर भी अकुलीन पुत्र को राजा नहीं बनाया जा सकता[३]। ज्येष्ठ राजकुमार के योग्य न होने पर अन्य राजपुत्र को ज्येष्ठता के क्रम से राजा बनाना चाहिये। उसके अभाव में पुत्री का पुत्र और उसके भी अभाव में गर्भिणी राजमहिषी का गर्भ तथा उसके भी अभाव में राजवंश की पंचायत को उत्तराधिकार मिलना चाहिये।

---

१. अर्थशास्त्र १.१७.५४।।
२. आत्मसम्पन्नं सैनापत्ये यौवराज्ये वा स्थापयेत्। अर्थशास्त्र १.१७.४५।।
३. अर्थशास्त्र १.१७.५४।।

Scanned by CamScanner

(६) राजप्रासाद –

कौटिल्य ने व्यवस्था दी है कि राजा के निवास के लिये विशेष सुरक्षा और सुविधाओं से सम्पन्न राजप्रासाद का निर्माण किया जाना चाहिये। राजप्रासाद को परिखा और प्राकार से परिवेष्टित होना चाहिये। इसको बहुद्वार, बहुप्रकोष्ठ, गुप्त भित्तियों वाला, गुप्त मार्गों तथा सुरंगों से युक्त होना चाहिये। राजप्रासाद में अन्त:पुर, कन्यान्त:पुर, प्रसूतिकागृह, चिकित्सालय, प्रमदवन, सरोवर, वाटिका, मन्त्रणागृह आदि की व्यवस्था होनी चाहिये। राजभवन की सुरक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

(७) राजा के कर्तव्य –

कौटिल्य ने राजा के कर्तव्यों का विशेष रूप से निर्देश किया है। प्रजा का कल्याण करना ही उसका प्रमुख कर्तव्य है। प्रजा के सुख और हित में राजा का सुख और हित है। उसका अपना हित या प्रिय नहीं है[१]। वर्णाश्रम धर्म का पालन कराना राजा का कर्तव्य है। इस मर्यादा की स्थापना से ही जगत् प्रसन्न रहता है और दु:खी नहीं होता[२]। प्रजापालन, यज्ञ, दान, अनुशासन और योग्य व्यक्तियों को उनके अनुकूल पद पर नियुक्त करना राजा के कर्तव्य हैं।

(vi) मन्त्रि-परिषद् –

राज्य के विविध कार्यों में मन्त्रणा देने के लिये कौटिल्य ने मन्त्रियों (अमात्यों) को नियुक्त करने का परामर्श दिया है। इस सम्बन्ध में निम्न तथ्य विचारणीय है :-

(१) मन्त्रि-परिषद् की उपयोगिता –

कौटिल्य का कथन है कि सभी कार्यों को आरम्भ करने से पूर्व मन्त्रणा करना अनिवार्य है[३]। राज्य का संचालन रथ के समान है। राजा और मन्त्री उसके दो पहिये हैं। एक पहिये से रथ नहीं चल सकता। अज्ञात विषय को जानने, ज्ञात विषय का निश्चय करने, निश्चित को दृढ़ करने, संशय के निवारण करने और एकांगी ज्ञान को पूर्ण करने के लिये मन्त्री आवश्यक हैं। मन्त्री राजा की प्रमादों से रक्षा करते हैं और उसको कर्त्तव्य का पालन करने के लिये तत्पर बनाते हैं। वे विपत्तियों से राजा की रक्षा करते हैं[४]।

(२) मन्त्रि-परिषद् के सदस्य की योग्यता –

मन्त्रि-परिषद के सदस्य की योग्यता को अमात्यसम्पत् कहा गया है। उसको स्वेदशज, कुलीन, अनुकूल, सद्बन्धुओं से सम्पन्न, शिल्पों में कुशल, विद्वान्, कार्यों में चतुर, विविध भाषाओं का वेत्ता, स्मृतिशील, उत्तम प्रबन्धक, समर्थ, उत्साही, प्रभावशाली, क्लेश सहन करने वाला, दृढ़, राजभक्त, सुशील, बलवान्, नीरोग, धैर्यशाली, निरभिमानी, स्थिर स्वभाव का, सौम्य, रूपवान्, सर्वप्रिय तथा व्यर्थ में वैरभाव मोल न लेने वाला होना चाहिये[५]।

---

१. प्रजासुखे सुखं राज्ञ: प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं प्रियं राज्ञ: प्रजानां तु प्रियं हितम् ।। अर्थशास्त्र १.१९.३९।।
२. अर्थशास्त्र १.१.१७।। ३. मन्त्रपूर्वा: सर्व आरम्भा:। अर्थशास्त्र १.१५.२।।
४. अर्थशास्त्र १.७.१३।। ५. वही १.९.१।।

Scanned by CamScanner

(३) मन्त्रणा की प्रणाली -

आवश्यक कार्यों के उपस्थित होने पर राजा मन्त्रि-परिषद् को बुलाता है[१]। मन्त्रिपरिषद् का एक अध्यक्ष होता है। मन्त्रणा को गुप्त रखना चाहिये। मन्त्रणा का प्रकट हो जाना राजा और मन्त्री दोनों के लिये घातक है[२]। मन्त्रणा का निर्णय बहुमत के आधार पर किया जाना चाहिये। उसके कार्यान्वयन के उपायों को भी खोजना चाहिये[३]।

(४) सदस्य संख्या -

कार्यों में सहायता लेने के लिये राजा अनेक मन्त्रियों को नियुक्त करता है। परन्तु राजा को उचित मन्त्रणा देने के लिये इनमें तीन-चार मन्त्री विशेष होते हैं[४]। देश, गुण, काल और कर्म का अवलोकन कर किसी को अमात्य बनाया जा सकता है। परन्तु मन्त्री के पद पर सहसा ही किसी की नियुक्ति नहीं करनी चाहिये[५]। मन्त्रियों की संख्या भी बहुत अधिक न हो। ऐसा होने पर एक तो निर्णय पर पहुंचना कठिन हो जायेगा और दूसरे मन्त्र की रक्षा भी कठिन होगी।

(५) मन्त्रियों के वेतन -

कौटिल्य का कथन है कि मन्त्रियों को पद, योग्यता और महत्त्व के अनुसार वेतन दिया जाना चाहियें[६]। इनको इतना पर्याप्त वेतन मिलना चाहिये कि वे अपने पद के अनुरूप अपना और परिवार का पालन कर सकें। उनको अन्य उपाय न अपनाने पड़ें। कम वेतन मिलने पर वे कुपित और भ्रष्ट हो सकते हैं। इससे राजा और राज्य दोनों की क्षति होगी। वेतन की दृष्टि से ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित, सेनापति, राजमाता, राजमहिषी और मन्त्री एक ही श्रेणी में है। इनको ४८ हजार पण वार्षिक वेतन दिया जाना चाहियें[७]।

(vii) प्रमुख अधिकारी और उनके कार्य -

कौटिल्य ने राजकीय कार्यों के संचालन के लिये और निर्णयों के कार्यान्वयन के लिये विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति करने की व्यवस्था की है । इन अधिकारियों को तीर्थ कहा गया है। मुख्य रूप से निम्न अधिकारियों की गणना की गई है।

(१) **मन्त्री** - विभाग का सर्वोच्च पदाधिकारी
(२) **पुरोहित** - राजगुरु और धार्मिक कार्यों का अधिष्ठाता
(३) **सेनापति** - सेना पर नियन्त्रण करने वाला
(४) **युवराज** - राजशासन का प्रधान अधिकारी, भावी राजा
(५) **दौवारिक** - राजमहल का संरक्षक

१, अर्थशास्त्र १.१५.६३।।
२. मन्त्रभेदोऽक्षेमकरो राज्ञस्तदायुक्तपुरुषाणां च। अर्थशास्त्र १.१५.१५।।
३. वही १.१५.६४।। ४. वही १.१५.३६।। ५. वही १.८.३३।।
६ वही १.१५.४६।। ७. वही ५.३.४

Scanned by CamScanner

(६) **अन्तर्वेशिक** – प्रधान अंगरक्षक
(७) **समाहर्ता** – राजकोष का रक्षक । अभियोगों का निर्णायक
(८) **सन्निधाता** – राजकीय निर्माणों का अधीक्षक एवं आय का ज्ञान रखने वाला
(९) **प्रदेष्टा** – फौजदारी मुकदमों का निर्णायक
(१०) **नायक** – सेना में मुख्य अधिकारी
(११) **व्यावहारिक** – धर्मस्थीय न्यायालय का अधिकारी
(१२) **कार्यान्तिक** – खानों और कारखानों का अधिकारी
(१३) **महामात्य** – अमात्य-परिषद् का अध्यक्ष
(१४) **दण्डपाल** – सेना विभाग का एक अधिकारी
(१५) **दुर्गपाल** – दुर्ग का अधीक्षक
(१६) **अन्तपाल** – सीमान्त प्रदेशों का प्रधान अधिकारी
(१७) **आटविक** – वनों और वन्य जातियों का प्रबन्धक

कौटिल्य का मत है कि उच्च अधिकारियों के चाल-चलन की निरन्तर निगरानी रखी जानी चाहिये। ये परस्पर द्वेष न करके सहकारी भावना से प्रजा के हितकारी कार्यों को करें।

(viii) विभिन्न अध्यक्ष –

कौटिल्य ने विभिन्न विभागों के अध्यक्षों की नियुक्ति का निर्देश किया है। मुख्य रूप से ये निम्न हैं –

(१) **कोषाध्यक्ष**
(२) **आकराध्यक्ष** – खानों से सम्बन्धित कार्यों का अध्यक्ष
(३) **सुवर्णाध्यक्ष** – खनिज द्रव्यों को शुद्ध करने और कार्य के योग्य बनाने वाले कारखानों का अध्यक्ष
(४) **कोषागाराध्यक्ष** – विविध वस्तुओं के गोदामों का अध्यक्ष
(५) **पण्याध्यक्ष** – सरकारी विक्रेय वस्तुओं का अधिकारी
(६) **कुप्याध्यक्ष** – वनों से आने वाले कुप्य, (चन्दन, बांस, पलाश आदि) पदार्थों का संग्राहक
(७) **आयुधागाराध्यक्ष** – विविध आयुधों का संग्राहक
(८) **पौतवाध्यक्ष** – तोल-माप आदि का अधिकारी
(९) **शुल्काध्यक्ष** – करों का प्रधान अधिकारी
(१०) **सूत्राध्यक्ष** – वस्त्र आदि के कारखानों का अधिकारी
(११) **सीताध्यक्ष** – कृषि विभाग का अध्यक्ष
(१२) **सुराध्यक्ष** – सुरा सम्बन्धी विभाग का अधिकारी
(१३) **सूनाध्यक्ष** – पशु-वध स्थानों का अध्यक्ष
(१४) **गणिकाध्यक्ष** – वेश्यालयों पर नियन्त्रण रखने वाला
(१५) **नावध्यक्ष** – नौकाओं का अध्यक्ष
(१६) **अश्वाध्यक्ष**
(१७) **गजाध्यक्ष**

Scanned by CamScanner

(१८) गोऽध्यक्ष
(१९) रथाध्यक्ष
(२०) पत्त्यध्यक्ष
(२१) मुद्राध्यक्ष - मुद्रा विभाग का अध्यक्ष
(२२) विवीताध्यक्ष - चरागाहों का अध्यक्ष

(ix) दूत और गुप्तचर -

कौटिल्य ने दूत के तीन भेद किये हैं - निसृष्टार्थ, परिमितार्थ और शासनहर। अमात्यसम्पत् से युक्त दूत निसृष्टार्थ है। उससे एक चौथाई गुणों से हीन परिमितार्थ है। आधा गुणहीन शासनहर है। राजा के विभिन्न सन्देशों को ले जाने और उसका विभिन्न देशों में प्रतिनिधित्व करने के लिये दूतों की नियुक्ति की जाती थी।

दूत का कार्य है कि वह अपने स्वामी की बात को सत्य-सत्य कहे। दूत अवध्य होता है[१]।

राज्य की आन्तरिक और बाह्य बातों को जानने के लिये चर या गुप्तचर नियुक्त किये जाते थे। इनकी गतिविधि गुप्त या अप्रकट रहती थी। कौटिल्य ने गुप्तचरों की नौ कोटियां कही हैं - कापटिक, उद्‌स्थित, गृहपतिक, वैदेहक, तापस, सत्री, तीक्ष्ण, रसद और भिक्षुकी। प्रत्येक कोटि के दो भेद हैं - बाह्यचर और आभ्यन्तरचर। प्रत्येक कोटि के गुप्तचरों की पृथक् चर संस्था होती है और उसका एक अध्यक्ष होता है। सन्देशों को गुप्त रखने के लिये वे विशेष सांकेतिक लिपि का प्रयोग करते हैं[२]। एक ही चर की बात पर राजा को विश्वास नहीं करना चाहिये, जब तक कि उस समाचार की अन्य चरों द्वारा पुष्टि न की जाये। किसी चर द्वारा बार-बार गलत समाचार भेजने पर उसको गुप्त रीति से दण्डित किया जाना चाहिये[३]।

(x) कोष -

राज्य के संचालन के लिये कोष की उपयोगिता सबसे अधिक है[४]। राजा को सबसे पहले कोष का चिन्तन करना चाहिये[५]। कोष का संचय करने के लिये राजा की स्वेच्छाचारिता का कौटिल्य समर्थन नहीं करते। अत: कर लगाने के लिये विशेष सिद्धान्त निर्धारित किये गये थे।

उद्योग-धन्धों पर उनके सामर्थ्य के अनुसार कर लगाना चाहिये। नये निर्माणों को कुछ समय तक करमुक्त रखना चाहिये। अनेक व्यवसायों को राज्य के नियन्त्रण में लाया जा सकता है। इनसे राज्य को आर्थिक लाभ होगा। विशेष कार्यों को निष्पन्न करने से सम्बन्धित पदार्थों को, जैसे कि संस्कार, व्रत, यज्ञ, दान, उपायन आदि से सम्बन्धित द्रव्यों को करमुक्त रखा जाना चाहिये।

कौटिल्य ने आय-मुख के मार्ग गिनाये हैं - दुर्ग, राष्ट्र, खान, सेतु, व्रज, और वणिक्पथ[६]। मूल, भाग, ब्याजी, परिघ, क्लृप्त, रूपिक और अत्यय राजकोष की वृद्धि करते हैं[७]।

---

१. अर्थशास्त्र १.१६.१८-१९।। २. वही १.१२.१३।। ३. वही १, १२, १७।।
४. अर्थशास्त्र १.१७.१०।। ५. वही १.२८.२।। ६. वही २.६.९।। ७. वही २.६.१०।।

Scanned by CamScanner

प्रजा की समृद्धि, चरित्र का विकास, चोरों का निग्रह, योग्य कर्मचारियों की नियुक्ति, सस्य की वृद्धि, व्यापार का विकास, बाह्य-आन्तरिक उपद्रवों का न होना, जनता को आर्थिक सहायता, हिरण्य का संग्रह और उपायनों की प्राप्ति ये सब राजकोष की वृद्धि में सहायक हैं[१]। राजा को उन कारणों से बचना चाहिये, जो कोष का क्षय करते हैं। ये कारण आठ हैं - प्रतिबन्ध, प्रयोग, व्यवहार, अवस्तार, परिहापण, उपभोग, परिवर्तन और अपहार[२]।

कौटिल्य ने कोष को व्यय करने के सिद्धान्त भी दिये हैं। व्यय के मार्ग हैं - देवपूजा, पितृपूजन, दान, स्वस्तिवाचन, अन्तःपुर, राजकीय पाठशाला, दूत, कोष्ठागार, शस्त्रागार, पण्यशाला, उद्योग-धन्धों के कार्य, सेना, गोमण्डल, पशु, मृग, पक्षी, सर्प आदि का संग्रह, काष्ठ, तृण, वाटिका आदि की रक्षा, राजा का और अधिकारियों का वेतन।

(xi) पुर और जनपद -

शासन की सुविधा के लिये राज्य का पुर और जनपद दो भागों में संगठन का विधान किया गया था। पुर का अधिकारी नागरक था। शासन की सुविधा के लिये पुर को चार स्थानों में विभक्त होना चाहिये और यहां का अधिकारी स्थानिक होता हैं[३]। स्थानिक के अधीन गोप नामक अधिकारी का उल्लेख हैं[४]। शासन के लिये दस-बीस-चालीस कुटुम्बों का संगठन होना चाहिये तथा उनके विवरण लिखे होने चाहियें। रात्रि-निवास, आवागमन, स्वच्छता, सुरक्षा आदि की उचित व्यवस्था होनी चाहिये। कौटिल्य ने रात्रि में नगर में प्रवेश-निर्गम के और निवास के विशेष नियम बनाये थे।

कौटिल्य ने जनपदों के उचित संगठन का निर्देश किया है। यहां प्रशासन की इकाई ग्राम थे। इनका प्रधान अधिकारी ग्रामिक था। ग्राम-वृद्धों की सहायता से वह शासन करता था। तदनन्तर पांच-पांच और दस-दस ग्रामों को संगठित करने का निर्देश है। इनके अधिकारी को गोप कहते थे। इनके ऊपर २०० ग्रामों के समूह के मध्य खार्वटिक, ४०० ग्रामों के समूह के मध्य द्रोणमुख और ८०० ग्रामों के समूह के मध्य स्थानीय बस्ती बसा कर अधिकारी नियुक्त होने चाहियें। सीमान्तों पर दुर्ग होने चाहियें और अन्तपाल की नियुक्ति होनी चाहिये।

(xii) अन्तर्राज्य सम्बन्ध और परराष्ट्र नीति -

कौटिल्य के समय में भारतवर्ष अनेक छोटे-छोटे प्रदेशों में विभक्त था। अतः पारस्परिक सम्बन्धों के लिये राजनीतिज्ञों ने मण्डल सिद्धान्त का आश्रय लिया था। इस दृष्टि से राज्यों के चार वर्ग किये गये थे - अरिराज्य, मित्रराज्य, मध्यमराज्य और उदासीनराज्य। अरिराज्य तीन प्रकार के हैं - प्रकृति-अरि, सहज-अरि और कृत्रिम-अरि। जिन राज्यों की सीमायें मिलती हैं, वे प्रकृति-अरि होते हैं। मित्र राज्य भी तीन प्रकार के होते हैं - प्रकृति-मित्र, सहज-मित्र और कृत्रिम-मित्र।

परराष्ट्र नीति के सम्बन्ध में कौटिल्य ने भारतीय राजनीति में षाड्गुण्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। राजाओं की पराजय और विजय इसी पर आश्रित है। षाड्गुण्य हैं

---

१. अर्थशास्त्र २.८.३।। २. वही २.८.४।। ३. वही २.३६.४।। ४. वही २.३६.२।।

Scanned by CamScanner

- सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव[१]। षाड्गुण्य का उद्देश्य क्षय, स्थान और वृद्धि का निर्णय करना है।

कौटिल्य ने चार उपायों का भी निर्देश किया है - साम, दान, भेद और दण्ड[२]। राज्य के संचालन में तीन शक्तियां भी प्रभावी होती हैं - प्रभुशक्ति मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति। इन शक्तियों से सम्पन्न राजा विजयी होता है[३]। कौटिल्य ने राज्यों के संघ बनाने की भी कल्पना की थी। सुरक्षा और समृद्धि के लिये ये वांछनीय थे। राज्यों के संघ को शत्रु जीत नहीं सकते[४]। संघ राज्य दो प्रकार के थे - शस्त्रोपजीवी और राजशब्दोपजीवी।

(xiii) गणतन्त्र -

कौटिल्य राजतन्त्र के प्रबल समर्थक थे। परन्तु 'अर्थशास्त्र' में कुछ और भी अन्य प्रकार के राज्यों का वर्णन है। इनमें द्वैराज्य, वैराज्य और संघराज्य उल्लेखनीय हैं। कुछ लेखक इनको गणतन्त्र (Republics) कहते हैं।

(xiv) न्याय-प्रणाली -

कौटिल्य की न्याय-व्यवस्था का वर्णन महत्त्वपूर्ण है। जनता के जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा और अपराधियों को दण्ड देने के लिये न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाती थी। कौटिल्य ने न्याय प्रशासन को दो भागों में विभक्त किया है - व्यवहार और कण्टकशोधन। व्यवहार से सम्बन्धित न्यायालय को धर्मस्थीय भी कहा गया है।

व्यवहार के अन्तर्गत विवाद हैं - स्त्री-पुंधर्म (स्त्री या पुरुष द्वारा सदाचार का अतिक्रमण), दायविभाग, अंशविभाग, पुत्रविभाग, वास्तुविवाद, ऋणसम्बन्धी विवाद, निक्षेप, अस्वामिविक्रय, व्यापार का साझा, दान, वेतन न देना, सीमाविवाद, साहस, स्तेय, मारपीट, वाक्पारुष्य, द्यूतसमाह्वय, क्रय-विक्रय के झगड़े आदि। कौटिल्य ने विवादों में मध्यस्थ को मान्यता दी है। उसके द्वारा दिया गया निर्णय कानूनी मान्यता रखता है।

कण्टकशोधन न्यायालय का क्षेत्र विशाल था। व्यवसाय और उद्योग सम्बन्धी बेईमानी, राजकर्मचारियों द्वारा प्रजा का उत्पीडन, दुष्ट जनों द्वारा प्रजा का उत्पीडन आदि विवाद इसके अन्तर्गत आते हैं।

कौटिल्य ने विविध प्रकार के न्यायालयों की स्थापना पर बल दिया है। ग्राम, संग्रहण, द्रोणमुख और स्थानीय नाम से एक ग्राम. दस ग्राम.४०० ग्राम और ८०० ग्रामों के मध्य न्यायालय हों। इनमें तीन धर्मस्थ और तीन अमात्य विवादों को सुन कर निर्णय दें।

न्याय की प्रक्रिया सरल थी। अर्थी. प्रत्यर्थी और साक्षी को अपना पक्ष प्रस्तुत करने की स्वतन्त्रता थी। साक्ष्य तीन प्रकार के होते हैं - लिखित प्रमाण, साक्षी और भोग। अभियोगों में सत्य-असत्य को जानने के लिये गुप्तचरों की भी सहायता ली जा सकती है[५]। कौटिल्य ने कालबाधित सिद्धान्त को नहीं माना है। समय कितना ही पुराना क्यों न हो जावे,

---

१. वही २.३६.२।। २. अर्थशास्त्र ९.३.७।। ३ वही ६.२.५० ।।
४ वही ३.१.१।। ५. वही ३.१.५९।।

Scanned by CamScanner

अपराधी को दण्ड मिलना ही चाहिये[१]। अभियोगों के निर्णय में आयु पर भी विचार किया जाना चाहिये। १२ वर्ष की स्त्री और १६ वर्ष का पुरुष दण्ड के योग्य हो जाते हैं[२]।

दण्ड देने के सम्बन्ध में अपराध की मात्रा, अपराधी का सामर्थ्य, अपराधी का वर्ण,. उसमें सुधार की योग्यता और इच्छा आदि तथ्यों को ध्यान में रखना चाहिये। दण्ड तीन प्रकार के हैं - अर्थदण्ड. बन्धनागार दण्ड और कायदण्ड।

छोटे-बड़े जुर्माने अर्थदण्ड हैं। बन्धन ये बन्द करने में लिये बन्धनागार होने चाहियें। इनका अध्यक्ष बन्धनागाराध्यक्ष होता है[३]। कायदण्ड दो प्रकार का होता है - शरीर का उत्पीडन और वध। कोड़े लगवाना, बैंत मारना. रस्सी से मारना. उल्टे लटकवाना. अंग कटवाना. मर्मस्थल छिदवाना, नाखूनों को छिदवाना आदि उत्पीडन के उपाय हैं। वध अनेक प्रकार से कराया जा सकता है, यथा - हाथी से कुचलवाना, कुत्तों से नुचवाना, अग्नि से जलवाना, शूलारोपण, फांसी, जल में डुबवाना, खाल खिंचवाना आदि[४]।

(xv) सेना -

सप्त-प्रकृति राज्य में दण्ड भी एक प्रकृति है। यहां दण्ड से अभिप्राय सेना से है। सैन्य बल छ: प्रकार का होना चाहिये - मौल. भूत. श्रेणी. मित्र, अमित्र और अटवी[५]। इनमें पूर्व पूर्व बल अधिक श्रेष्ठ है[६]। युद्ध.विद्या में कुशल क्षत्रिय सैनिक श्रेष्ठ होते हैं। शूद्रों की सेना भी अच्छी है। परन्तु ब्राह्मण वर्ण नमस्कार के ही योग्य है[७]।

कौटिल्य ने सेना के चार प्रमुख अंग कहे हैं (चतुरगिणी सेना)। इनकी सहायता के लिये विष्टि होते थे। सेना के साथ चिकित्सक और सेविकायें भी आवश्यक हैं[८]।

(xvi) युद्ध -

युद्ध तीन प्रकार का है - धर्मयुद्ध, कूटयुद्ध और तूष्णीकयुद्ध। धर्मयुद्ध प्रकाश रूप से होता है। अनुकूल परिस्थितियों में प्रकाशयुद्ध करना चाहिये। अन्यथा कूटयुद्ध और तूष्णीकयुद्ध का आश्रय लेना चाहिये।

सेना को व्यूहबद्ध करके युद्ध करना भारतीय शैली थी। कौटिल्य ने अनेक प्रकार के व्यूहों का वर्णन किया है - दण्डव्यूह. भोगव्यूह. मण्डलव्यूह. संहतव्यूह. असंहतव्यूह. चापव्यूह. चापकुक्षिव्यूह. वलयव्यूह आदि।

युद्धाभियान में कौटिल्य ने शत्रु के देश और जनता को विविध प्रकार से उत्पीडित करने का निर्देश किया है। परन्तु विजित राज्य के प्रति वे सदाशय हैं। नवीन विजय होने पर राजा को विशेष रूप से सावधान रहना चाहिये। उसे चाहिये कि वह विरोधी पक्ष को भी प्रसन्न और सन्तुष्ट रखे। पराजित राजा के प्रति उदारता का व्यवहार होना चाहिये।

---

१. अर्थशास्त्र ३.१९.२९।। २.वही ३.३.३।। ३. वही ४.९.४८-४९।।
४. वही ४.८.२६-२८, ४.९.४५-४७।। ५. वही २.३३.९।। ६. वही ९.२.३५।।
७. वही ९.२.४५-४७।। ८ वही १०.५.६२।।

Scanned by CamScanner

(xvii) कौटिल्य का महत्त्व तथा विशेषतायें -

प्रशासन के संगठन और दण्डनीति के विषय में कौटिल्य के महत्त्व का मूल्यांकन असन्दिग्ध रूप से महनीय है। भारतीय राजशास्त्र का यह सबसे पहला विशुद्ध राजनीतिक ग्रन्थ है। भारतवर्ष की राजनीति और प्रशासन-व्यवस्था में इसने सदा मार्गदर्शक का कार्य किया है।

कौटिल्य ने राजनीति को परम्परागत धर्म और नैतिकता से पृथक् नहीं किया। शासन का प्रमुख उद्देश्य प्रजा का कल्याण और धर्म की रक्षा रहा। परन्तु राजनीतिक उद्देश्यों को पूरा करने के लिए कौटिल्य ने नैतिकता की प्रक्रिया को उतना महत्त्व नहीं दिया।

कौटिल्य राजतन्त्र पद्धति के प्रबल समर्थक रहे। उन्होंने वेदोक्त परम्पराओं को समर्थन दिया। वर्णधर्म पर आधारित व्यवस्था को बनाये रखना राजा का उत्तरदायित्व है। उसके अनुसार प्रजा के विभिन्न वर्गों की धार्मिक परम्पराओं को राजा द्वारा सम्मान दिया जाना चाहिये। राजतन्त्र के समर्थक होते हुये भी कौटिल्य ने राजा की निरंकुशता को स्वीकार नहीं किया। राजा भी धर्म और परम्पराओं के अधीन है। आन्तरिक प्रशासन में कौटिल्य ने नैतिकता के इन नियमों के पालन को अनैतिक माना। जिस किसी प्रकार राज्य के विस्तार तथा शत्रुओं के उच्छेदन को उसने मान्यता दी। राजा के व्यक्तिगत नैतिक आचरण पर कौटिल्य ने विशेष बल दिया था। राजा को न्यायोचित आचरण करना चाहिये तथा प्रजा के कल्याण के कार्यों में तत्पर रहना चाहिये।

कौटिल्य ने प्रशासन तन्त्र का विस्तार से वर्णन किया है। उसने राजकीय अधिकारियों के गुणों और कर्तव्यों का उपदेश किया है। उत्तरवर्ती भारतीय राजनीति के सभी आचार्यों ने कौटिल्य को बहुत अधिक आदर दिया।

५. कामन्दक

कौटिल्य के अनन्तर भारतीय राजशास्त्र के आचार्यों में कामन्दक का महत्त्व बहुत अधिक है। इन्होंने 'कामन्दकनीतिसार' (कामन्दकनीति) ग्रन्थ की रचना करके भारतीय राजशास्त्र को परिपूर्णता प्रदान की।

अन्य भारतीय आचार्यों के समान कामन्दक के समय को और उनके जीवन की घटनाओं को कह पाना कठिन ही है। तथापि वे निश्चित रूप से ईसा के बाद ही हुये थे। कुछ विद्वान् इनको चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालीन (चतुर्थ शता० ई०) मानते हैं। कुछ ने इनको आठवीं शताब्दी ई० का कहा है। याकोबी इनको चतुर्थ शता०ई० का और अल्तेकर इनको छठी शताब्दी ई० का प्रतिपादित करते हैं।

'कामन्दकनीतिसार' ग्रन्थ की रचना लेखक के ही अनुसार 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' के आधार पर हुई थी। कुछ आचार्य इस ग्रन्थ को 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' का ही छन्दोबद्ध सारांश कहते हैं। यह छन्दोबद्ध रचना है। इसमें १९ सर्ग और १९६३ श्लोक हैं। ग्रन्थ की विषय-वस्तु का परिचय इस प्रकार है -

(i) विद्यायें -

प्राचीन भारतीय परम्पराओं के अनुसार कामन्दक ने चार विद्यायें मानी हैं - आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति।

Scanned by CamScanner

(१) आन्वीक्षिकी -

अध्यात्म विद्या ही आन्वीक्षिकी है। इसके द्वारा तत्त्वज्ञान होकर प्राणी हर्ष और शोक से मुक्त हो जाता है[१]।

(२) त्रयी -

धर्म-अधर्म का बोध कराने वाली विद्या त्रयी है। ऋक्, यजु: और साम त्रयी विद्या के आधार हैं। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय - वैदिक संहितायें, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्, उपवेद, वेदांग, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण त्रयी विद्या के अन्तर्गत हैं[२]।

(३) वार्ता -

जीविकोपार्जन की विद्या वार्ता है। इसके मुख्य अंग तीन हैं - कृषि, पशुपालन और वाणिज्य । वार्ता का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य अपने अनुकूल व्यवसाय से जीविका का उपार्जन करता हैं[३]।

(४) दण्डनीति -

जगत् की स्थिति का आधार दण्डनीति है। दण्ड के सम्यक् प्रयोग की नीति को दण्डनीति कहते हैं। दण्ड राजा में निहित रहता हैं[४]।

(ii) राज्य की उत्पत्ति -

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कामन्दक ने स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा। परन्तु प्रतीत होता है कि वे दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को मानते होंगे। इनके समय में राजा में देवत्व की प्रतिष्ठा के सिद्धान्त का प्रतिपादन हो चुका था। वे राजा को भूतल का देव कहते है[५]। कामन्दक का मत है कि मनुष्य स्वाभाव से लोभी है। यह विना बाध्य किये हुये धर्म के मार्ग पर नहीं चलता। अत: समाज की मर्यादा दण्ड से ही स्थापित होती है[६]। राजा इस दण्ड का धारक है।

(iii) राज्य -

कामन्दक के अनुसार राज्य के सात अंग होते हैं - स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, बल और सुहृद्[७]। ये अंग परस्पर उपकारक होते हैं और अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण होते हैं। इस अंगों में विरूपता (व्यसन) उत्पन्न होने पर राज्य का विनाश हो जाता है। कामन्दक ने इन व्यसनों का विस्तार से वर्णन करके उनकी निवृत्ति के उपाय कहे हैं।

---

१. कामन्दकनीतिसार २.११।।
२ वही २.१३ ।।
३. वही २.१४।। ४. वही २.१५।।
५. वही ४.४ ।। ६. वही २.४२।।
७. स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गं कोषो बलं सुहृत्।
परस्परोपकारीदं सप्तांगं राज्यमुच्यते।। कामन्दकनीतिसार ४.१

Scanned by CamScanner

राज्य में दो प्रकार के कोप हो सकते हैं - आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तर कोप अपने ही जनों, अमात्यों आदि के कारण हो सकते हैं[१]। इस ओर राजा को जागरूक रहना आवश्यक है। प्रजा के हित के प्रति राजा को सावधान रहना चाहिये। कामन्दक ने प्रजा के हित के कार्यों की गणना की है[२]। पररा्य तीन प्रकार के हैं - शत्रु. मित्र और उदासीन। इनके प्रति यथायोग्य व्यवहार करना चाहिये[३]।

(आ) अर्थसम्बन्धी कर्तव्य - कामन्दक ने राजनीति में आर्थिक सुव्यवस्था को प्रधानता दी है। उनकी आर्थिक व्यवस्था चतु:सूत्री है। ये सूत्र हैं - अर्थोपार्जन, अर्थवर्धन, अर्थरक्षण और अर्थवितरण। अर्थोपार्जन न्यायपूर्ण हो, उसकी सुरक्षा हो, अर्जित तथा रक्षित अर्थ की वृद्धि के उपाय हों तथा उसके न्यायपूर्ण वितरण एवं व्यय की व्यवस्था हो। इसी से सार्वजनिक कल्याण होगा।

(३) राजा की सुरक्षा -

कामन्दक ने राजा की सुरक्षा के विषय में कौटिल्य का अनुसरण किया है। राजतन्त्र पद्धति में राजा आन्तरिक और बाह्य षड्यन्त्रों से घिरा रहता है। इसलिये उसकी सरुक्षा के प्रबन्ध अनिवार्य हैं। राजा के अपने ही प्रियजन, यहां तक कि उसके भाई और पुत्र भी उसका वध कर सकते हैं। राजा को भोजन, शय्या, आसन, वस्त्र, भूषण आदि द्वारा विष दिये जा सकते हैं। इनसे सावधान रहना आवश्यक है। आकस्मिक और गुप्त आक्रमणों से सुरक्षा के लिये प्रबन्ध होने चाहियें। राजा की अंगरक्षक सेना में उपधाविशुद्ध सैनिक होने चाहियें।

(४) राजा की दिनचर्या -

कामन्दक ने राजा की दिनचर्या के विषय में विशेष वर्णन नहीं किया। वह राजनीति के विषय में कौटिल्य का अनुयायी है। अत: कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित राजा की दिनचर्या का समर्थक उसको होना चाहिये।

(५) उत्तराधिकार -

राजतन्त्र के समर्थक कामन्दक ने राजा के औरस पुत्र को ही उत्तराधिकारी बनाये जाने का समर्थन किया है। परन्तु उसमें राजपद के योग्य युणों को भी वह अनिवार्य मानता है। सवर्ण भार्या से उत्पन्न औरस पुत्र को युवराज बनाया जाता है। उसको विनीत तथा गुणी होना चाहिये।

(v) मन्त्रिमण्डल -

कामन्दक ने मंत्री, अमात्य और सचिव पदों का उल्लेख किया है। वर्णनों से प्रतीत होता है कि ये भिन्न पद थे। मन्त्री राजा के नेत्र हैं और अमात्य तथा युवराज दो भुजायें है[४]। इससे प्रतीत होता है कि मन्त्री का कार्य राजा को मन्त्रणा देना और अमात्य का कार्य उस मन्त्रणा को कार्य रूप से परिणत करना रहा था।

---

१. कामन्वकनीतिसार १३.२५।। २. वही १३.५१-५९।।
३. वही १३.४९।। ४. वही १७.२६।।

Scanned by CamScanner

कामन्दक ने मन्त्रिमण्डल का वर्णन किया है[१]। इनमें मुख्यमन्त्री को मन्त्रिप्रवर की संज्ञा दी गई है। मन्त्रियों की संख्या के विषय में कामन्दक ने स्वयं कोई निर्देश न देकर प्राचीन आचार्यों के मतों को उद्धृत किया। मनु ने १२, बृहस्पति ने १६ और उशना ने २० मन्त्रियों का निर्देश किया था। कुछ आचार्यों के अनुसार मन्त्रियों की संख्या आवश्यकता के अनुसार होनी चाहिये।

कामन्दक के अनुसार मन्त्र ही राज्य का मूल है। मन्त्रियों की मन्त्रणा की उपेक्षा करने वाला राजा पतन को प्राप्त करता है[२]। प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में मन्त्रियों से मन्त्रणा करनी चाहिये तथा सामान्यतः बहुमत का आदर होना चाहिये। राजा की अनुपस्थिति में मन्त्रिमण्डल के परामर्श से मन्त्रिप्रवर शासन का संचालन करता है।

मन्त्र के पांच अंग हैं - सहाय, साधन, उपाय, देश-काल का विभाग और विपत्ति-प्रतीकार। मन्त्र का भेद अनिष्टकारी होता है। मद, प्रमाद, काम, सुप्तप्रलाप, स्त्रियों से परामर्श आदि से मन्त्र का भेद हो सकता है। मन्त्रणा का स्थान ऐसा होना चाहिये, जहां कि अन्य कोई छिप कर उसको जान न सके।

मन्त्रियों की योग्यता के सम्बन्ध में कामन्दक विशेष सावधान हैं। मन्त्री को कुलीन, पवित्र, शास्त्रज्ञ, दण्डनीति का ज्ञाता, प्रगल्भ, दूरदर्शी, उत्साही, समयज्ञ, मित्रगुणसम्पन्न क्लेशसह, सत्यवादी, स्वस्थ, धैर्यशाली, दक्ष, दृढ़चरित्र, वीर, प्रियवादी, हितवक्ता और धर्मपरायण होना चहिये।

(vi) पुरोहित -

कामन्दक ने पुरोहित की नियुक्ति को अनिवार्य कहा है। धर्मप्रधान शासन-पद्धति में राजपुरोहित का होना आवश्यक था। पुरोहित को त्रयी विद्या तथा दण्डनीति का विशेषज्ञ होना चाहिये।

(vii) राजा-प्रजा सम्बन्ध -

कामन्दक के समय में राजा ही शासन का एकमात्र अधिकारी था। उसने प्रजा के अधिकारों और शासन में प्रबन्ध लेने का वर्णन नहीं किया। तथापि वह राजा को प्रजा का सेवक कहता है। राजा सब प्रकार से प्रजा की रक्षा करता है और लोक का अनुग्रह करता है।

(viii) कर्मचारी -

विभिन्न राजकीय कार्यों के लिये दक्ष, शुचि और अनृणी विभागाध्यक्षों की आवश्यकता होती है। इन कर्मचारियों की योग्यता के सम्बन्ध में कामन्दक ने विशेष निर्देश दिये हैं।

कर्मचारियों की नियुक्ति में कुल को बहुत महत्त्व दिया गया है[३]। कुलगत विशेषताओं को ही लक्ष्य करके यह कहा गया था कि नियुक्ति में विद्या का भी महत्त्व है। पद के योग्य योग्यता प्रत्याशी में होनी आवश्यक है। प्रशासन में भ्रष्टाचार न हो, अतः कामन्दक शुचि

---

१. कामन्दकनीतिसार ११.६७।। २. वही ११.७५।। ३. वही ५.१३,६७।।

Scanned by CamScanner

पुरुषों की नियुक्ति की व्यवस्था करते हैं[१]। उच्च कर्मचारियों को उद्योगशील, ज्ञानी, अनुभवी तथा विशेष ज्ञान-सम्पन्न होना चाहिये। नियुक्ति से पूर्व प्रत्याशी की परीक्षा ली जा सकती है।

कर्मचारियों को प्रोत्साहन देने के लिये कामन्दक ने प्रोत्साहन की व्यवस्था की थी। उनको कार्य के अनुरूप वेतन समय पर मिलना चाहिये। ऐसा भी न हो कि उनकी वृत्ति का लोप कर दिया जाये। निर्दोष कर्मचारी की वृत्ति में कटौती उचित नहीं है। कर्मचारियों के प्रति समुचित आदर का भाव होना चाहिये। अपमानित कर्मचारी स्वामी का परित्याग कर सकते हैं तथा सम्मान की रक्षा के लिये स्वामी का वध भी कर सकते हैं[२]।

कामन्दक ने कर्मचारी के व्यवहार सम्बन्धी नियम भी निर्धारित किये थे। उसकी वेशभूषा यथायोग्य होनी चाहिये। चलने-फिरने, उठने-बैठने में शिष्टता होनी चाहिये। वार्तालाप में शिष्टाचार का पालन होना चाहिये। गुप्त बातों को वह प्रकट न करे। चुगली, द्रोह, लोभ, असत्य आदि दुर्गुणों से वह दूर रहे। स्वामी की अनुरक्ति और विरक्ति को वह पहचान सके। राजा को चाहिये कि वह दुष्ट कर्मचारियों से प्रजा की रक्षा करे।

(ix) दूत -

कौटिल्य ने दूत को राजा का मुख कहा है। कामन्दक उसको विशेष चर मान कर प्रकाशचर कहता है। दूत में सामान्य गुणों के साथ विशेष योग्यतायें भी आवश्यक हैं। उसको प्रगल्भ, वाक्पटु, शास्त्र और शस्त्रों का ज्ञाता और कार्यपरायण होना चाहिये[३]। उसके अन्दर अमात्य की सभी योग्यताओं का होना भी आवश्यक है।

कौटिल्य के समान कामन्दक ने भी दूतों के तीन भेद किये हैं - निसृष्टार्थ, मितार्थ और शासनवाहक । परन्तु कौटिल्य के समान उसने इनके अधिकार क्षेत्र की सीमायें स्पष्ट नहीं कीं। सम्भवत: ये कौटिल्य के निसृष्टार्थ, परिमितार्थ और शासनहर के तुल्य रही होंगी।

दूत का प्रथम कर्तव्य अपने स्वामी के सन्देश को पर-राज्यों में ले जाना है। वह वहां अपने राजा के प्रताप और प्रभाव को स्थापित करता है। वह पर-राज्यों की स्थिति से और बल-अबल से अपने राजा को परिचित रखता है। इसके अतिरिक्त वह पर-राज्यों के कर्मचारियों को अपनी ओर मिलाने का प्रयास भी करता है। वह पर-राज्य द्वारा भेजे गये गुप्तचरों को भी जानने का प्रयत्न करता है[४]।

दौत्य कार्य के लिये कामन्दक ने विशेष सावधानियों का कथन किया है। विना अनुमति के वह पर-राज्य में प्रवेश नहीं कर सकता। वह अपने राजा की दुर्बलता को प्रकट नहीं होने देता और दूसरों के मनोभावों को जान लेता है। वह लोभ और काम से दूर रहता है और समय को भांप कर तुरन्त ही अपने देश में आ जाता है। अन्य राजशास्त्रियों के समान कामन्दक ने दूत की अवध्यता के सिद्धान्त को स्वीकार किया है।

---

१. कामन्दकनीतिसार ५.७५।। २. वही ५.६८।।
३. वही १२.२।। ४. वही १२.२४।।

Scanned by CamScanner

(x) चर -

भारतीय राजशास्त्रियों ने आन्तरिक तथा अन्य देशों की घटनाओं को गुप्त रूप से जानने के लिये चरों (गुप्तचरों) की नियुक्ति का उपदेश दिया है। चररूपी चक्षुओं द्वारा राजा दूर और समीप की सभी घटनाओं को जान लेता है[१]।

कामन्दक ने चर की विशेष योग्यताओं का निर्धारण किया है। उसको तार्किक, मनोवैज्ञानिक, स्मरणशील, पराक्रमी, मृदुभाषी, परिश्रमी, क्लेशसह, व्यवहारकुशल और प्रत्युत्पन्नमति होना चाहिये[२]।

कामन्दक ने कौटिल्य के समान और उससे मिलते-जुलते अनेक नाम तथा भेद चरों के लिखे हैं, यथा - तीक्ष्ण, प्रवृजिक, सत्री, विषद, धूर्त, लिंगिन्, पण्यशिल्पजीवी[३] आदि। इसके साथ ही उसने इनका वर्गीकरण भी किया है। यह वर्गीकरण कार्यों के अनुसार है। चरों का कर्तव्य है कि वे सभी समाचारों को लेते हुये सभी दिशाओं में विचरण करें। वे स्वपक्ष तथा परपक्ष की स्थिति का बोध अपने स्वामी को करावें[४]। ये चर अनेक रूप धारण करके घूमते हैं तथा गोपनीय विषयों का पता लगा कर अपने स्वामी के पास समाचार भेजते रहते हैं। इस प्रकार चारचक्षु राजा सोते हुये भी जागता रहता है[५]।

(xi) कोष -

राज्य के सात अंगों में कोष का बहुत महत्त्व है। राज्य के सभी कार्य-सेतुबन्ध, वणिज-व्यापार, प्रजा और मित्रों का संग्रह और त्रिवर्ग कोष द्वारा ही सिद्ध होते हैं[६]। राजा को सर्वप्रथम कोष का चिन्तन करना चाहिये। आय के मार्ग बहुत और व्यय के मार्ग अल्प होने चाहियें। परन्तु कोष का उपार्जन धर्म के अनुसार होना चाहिये। इस सम्बन्ध में निम्न तथ्य ज्ञातव्य हैं -

(१) आय के साधन -

कामन्दक ने राजकीय आय के विविध साधनों का वर्णन किया है। इस सम्बन्ध में उसने कौटिल्य का अनुसरण करके अन्य भी अनेक साधन बताये हैं। इनमें मुख्य हैं - कृषिकर, वणिक्पथकर , दुर्गकर, सेतुकर, कुंजरबन्धनकर (हाथियों को पकड़ने तथा बेचने के व्यवसाय पर कर), खनिकर, आकरकर और शून्य-निवेशकर (पड़ती, भूमि को बसाने से होने वाली आमदनी)[७]।

(२) कोष-संचय के हेतु -

कामन्दक का कथन है कि कोष का संचय जन-कल्याण के लिये होता है। इसको साधु-वृत्ति से एकत्रित करना चाहिये, असाधु वृत्ति से नहीं। इसके लिये निम्न हेतु कामन्दक ने स्वीकार किये है -

---

१. कामन्दकनीतिसार १२.२७-३०।। २. वही १२.२५।। ३. वही १२.२६,३४।।
४. वही १२.४७।। ५. वही १२.२८।। ६. वही १३.३२।। ७. वही ५.७८।।

Scanned by CamScanner

(अ) **प्रजापोषण** - राजा को चाहिये कि पहले प्रजा का पोषण कर उसको समृद्ध बनाने का प्रयत्न करे तथा उसके पश्चात् कर को एकत्रित करे[१]।

(आ) **व्यापार-विकास** - व्यापार तथा व्यवसायों के विकास में तथा रक्षा के कार्यों में राज्य को पूरा योग देना चाहिये। इसमें विघ्न न हों[२]।

(इ) **प्रजा-परित्राण** - आन्तरिक और बाह्य आपत्तियों से प्रजा की रक्षा करनी चाहिये। प्रजा के लिये भय के हेतु पांच है - राजकर्मचारी, चोर, शत्रु राजा, राजा के कृपापात्र और लोभी राजा[३]। इनसे रक्षा करके ही प्रजा से कर लेना उचित है।

(ई) **उपकार** - प्रजा के उपकारी कार्यों में धन का व्यय होना चाहिये। इससे प्रजा सुखी समृद्ध और सम्पन्न होगी[४]। तभी राजकोष की वृद्धि भी होगी।

(उ) **दुष्ट-शोषण** - दुष्टजनों की सम्पत्ति राज्य द्वारा अपहरण कर ली जानी चाहिये।

(३) व्यय के मार्ग -

कोष का संचय राज्य के विविध कार्यों के लिये किया जाता है। धर्म की स्थापना, आर्थिक समृद्धि के उपाय, राजकर्मचारियों के वेतन, आपातकाल को दूर करना आदि कार्यों के लिये कोष के व्यय को कामन्दक ने समुचित कहा है[५]।

(४) कोष के व्यसन -

कामन्दक ने कोष के व्यसनों को परिभाषित किया है। इनसे राजकोष क्षीण होता है। ये व्यसन इस प्रकार हैं - अधिक व्यय, परिक्षिप्त (कोष का बिखरा होना), कोष का भक्षण किया जाना, कर एकत्रित न होना और स्वामी से दूर होना[६]। राजकोष को इन व्यसनों से दूर होना चाहिये। राजा को चाहिये कि कोषागार की नित्य परीक्षा करे और अधिक व्यय न करे[७]।

(xii) न्याय-पद्धति -

कामन्दक ने समुचित दण्ड व्यवस्था का प्रतिपादन किया था। दण्ड के योग्य व्यक्ति को दण्डित करके राजा प्रजा की रक्षा करता हैं। तीक्ष्ण दण्ड देने से प्रजा विरक्त हो जाती है। विरक्त प्रजा निश्चय ही शत्रुओं से मिल सकती है। अत: यथाविधि दण्ड का विधान करने वाला राजा त्रिवर्ग को प्राप्त करता है। परन्तु राजा को यह ध्यान रखना चाहिये कि दण्ड के भय से ही प्रजा नियमों का पालन करती है।

(xiii) राष्ट्र -

कामन्दक ने राष्ट्र के तीन तत्त्व प्रतिपादित किये थे - भूमि, निवासी और शासन-व्यवस्था। भूमि को उर्वरा, प्रचुर सस्यों को उत्पन्न करने वाली, जल की सुविधा से सम्पन्न, राजमार्गों से विभूषित, विविध व्यापारों से समृद्ध, खनिजों और

---

१. कामन्दकनीतिसार ५.८४।। २. वही ५, ८०।। ३. वही ५.८२।।
४. वही ५.७४।। ५. वही ४.६४।। ६. वही १३.६६ ७. वही ५.६६।।

Scanned by CamScanner

वन्योपज से युक्त होना चाहिये। राष्ट्र के निवासी देशप्रेमी, शत्रुद्वेषी, क्लेशसह, धार्मिक और धनी हों। यहां उत्तम कोटि के कृषक, व्यापारी और शिल्पी हों। आजीविका के लिये वे स्वावलम्बी हों। शासन को भी सुव्यवस्थित होना चाहिये।

(xiv) राष्ट्र के व्यसन -

कामन्दक ने राष्ट्र के व्यसनों की गणना की है। ये वस्तुतः आपत्तियां है और इस प्रकार हैं - अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चूहों की अधिकता, शलभ (टिड्डियां की अधिकता) तोतों का आधिक्य, असम्यक् कर, असम्यक् दण्ड, शत्रु राजा, चोर, राजबल की क्रूरता, व्याधियों का प्रकोप, पशुओं की महामारी आदि[१]। राजा को चाहिये कि प्रजा की इनसे रक्षा करें।

(xv) दुर्ग -

राज्य के सात अंगों में रक्षा की दृष्टि से दुर्ग महत्त्वपूर्ण है। राष्ट्रभूमि के दो मुख्य भाग हैं - पुर और जनपद। पुरों का निवेश दुर्गों के अन्दर किया जाता है। राजा की राजधानी का निर्माण भी दुर्ग के रूप में होता है।

कामन्दक का कथन है कि दुर्ग को विशाल सीमा वाला, गहरी खाई और ऊंचे प्राकार से परिवेष्टित, गोपुर से युक्त, पर्वत-नदी-गहनवन के समीप, धन-धान्य और जल से समृद्ध तथा आयुधों एवं यन्त्रों से सम्पन्न होना चाहिये। यहां वीर योद्धा, नीतिनिपुण मन्त्री और शास्त्रों के ज्ञाता आचार्य रहें।

कामन्दक ने पांच प्रकार के दुर्ग कहे हैं - जलदुर्ग, पर्वतदुर्ग, वृक्षदुर्ग, ऊसरभूमिदुर्ग और मरुभूमिदुर्ग[२]। ये दुर्ग व्यसनों से रहित होने चाहियें। दुर्ग के व्यसन हैं - यन्त्रों, परिखा और प्राकार का छिन्न-भिन्न होना, शस्त्रों का अभाव, वस्त्र-ईंधन-अन्न का क्षीण होना[३]। राजा का कर्तव्य है कि दुर्ग को व्यसनों से बचावे।

(xvi) शक्ति -

राज्य के संचालन के लिये कौटिल्य का अनुकरण करते हुये कामन्दक ने तीन शक्तियों को कहा है - प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति। इन शक्तियों से सम्पन्न राजा विजय को प्राप्त करता हैं[४]।

(xvii) सेना -

राजा का बल उसकी सेना है। यह राजा और राज्य की रक्षा करती है। सेना के सम्बन्ध में मुख्य तत्त्व निम्न हैं -

(१) सेना के भेद -

कौटिल्य के समान कामन्दक ने भी छः प्रकार की सेना कही है - मौलबल, भूतबल, श्रेणीबल, सुहृद्बल, द्विषद्बल और आटविकबल। इनमें उत्तर की अपेक्षा पूर्व बल अधिक महत्त्व रखता है[५]।

---

१. कामन्दकनीतिसार १३.६३-६४।। २. वही ४.५९।। ३. वही १३.६५।।
४. वही १५.३२।। ५. वही १८.४।।

Scanned by CamScanner

(२) सेना के अंग -

कामन्दक के अनुसार सेना के चार प्रमुख अंग हैं - पदाति, अश्व, गज और रथ। वे षड्ंग बल का भी उल्लेख करते हैं - पदाति, अश्व, गज, रथ, मन्त्र और कोष[१]। उन्होंने नौसेना का उल्लेख नहीं किया।

(३) सेना के सेनापति -

सेना के संचालन के लिये अनेक छोटे-बड़े पदाधिकारी होते हैं। इनमें निम्न मुख्य है -

(अ) **सेनापति** - यह सेना का सर्वोच्च अधिकारी है। इसको ध्वजिनीपति भी कहा गया है[२]।

(आ) **बलमुख्य** - सेना के प्रत्येक वर्ग के लिये एक बलमुख्य होना चाहिये[३]। इस प्रकार ६ वर्गों के लिये छः बलमुख्य - मौलबलमुख्य, भूतबलमुख्य, श्रेणिबलमुख्य, सुहृद्बलमुख्य, द्विषद्बलमुख्य और आटविकबलमुख्य होते हैं।

(इ) **सेनांगपति** - प्रत्येक दुर्ग की सेना के चार अंग हैं तथा प्रत्येक अंग का एक सेनापति होता है। इस प्रकार ६ वर्गों की सेना के ६४ व २४ अंग है और उनके २४ सेनांगपति हैं।

(ई) **कुमार** - राजा के ज्येष्ठ पुत्र का सेना में विशेष स्थान है। वह कुमार कहलाता है। उसका महत्त्व सेनापति के समकक्ष कहा गया है[४]।

(उ) **नायक** - यह सेना का महत्त्वपूर्ण अधिकारी है, जो सेना के प्रयाण के समय मार्ग का निर्देशन करता है और संकटों से बचाता है[५]।

(४) व्यसन -

कामन्दक ने सेना के व्यसनों का विस्तार से वर्णन किया है। उसने व्यसनों के शमन के हेतु उपाय भी कहे हैं[६]। इनका सेवन करने से सेना व्यसनों से मुक्त हो जाती है।

(xviii) षाड्गुण्य -

भारतीय राजशास्त्र में षाड्गुण्य का बहुत महत्त्व है। कामन्दक ने इनका विस्तार से वर्णन किया है और इनके अनेक भेद भी कहे हैं। सन्धि-विग्रह-यान-आसन-संश्रय-द्वैधीभाव ये छः गुण हैं। किस समय किस गुण का आश्रय लेना चाहिये, उन परिस्थितियों का 'कामन्दकनीतिसार' में निर्देश है। इन छः गुणों का संक्षिप्त परिचय कामन्दक के अनुसार निम्न है -

(१) सन्धि -

बली शत्रु से आकान्त होकर निरुपाय राजा को सन्धि का आश्रय लेना चाहिये[७]। सन्धि के १६ भेद होते हैं[८] - कपाल, उपहार, सन्तान, संगत, उपन्यास, प्रतीकार, संयोग,

---

१. कामन्दकनीतिसार १८.२४।। २. वही १८.४३।। ३. वही १५.१७।।
४. वही १५.१८।। ५. वही १८.४५।। ६. वही १३.१७-२१।।
७. वही ९.१।। ८. वही ९.२-४।।

Scanned by CamScanner

पुरुषान्तर, अदृष्टनर, आदिष्ट, आत्ममिष, उपग्रह, परिक्रय, उच्छिन्न, परिदूषण और स्कन्धोपनेय।

(२) विग्रह -

परस्पर अपकार में संलग्न होना विग्रह है[१]। यह विवशता में ही होना चाहिये। युद्ध करने की मूर्खता किसी को भी नहीं करनी चाहिये[२]। जब अपना प्रकृतिमण्डल अनुरक्त और सम्पन्न हो और शत्रु का विपरीत हो, तभी विग्रह का आश्रय लेना उचित है[३]। कामन्दक ने विग्रह गुण की परिभाषा, लक्षण, कारण, वैर-भेद, विग्रह-विषय, फल, मान्य विग्रह, दुःसाध्य शत्रु, इन सबका विस्तृत निरूपण किया है।

(३) यान -

राजाओं की विजय-यात्रायें यान हैं। एक राजा द्वारा दूसरे राजा पर चढ़ाई करना यान है। कामन्दक ने यान के पांच प्रकार कहे हैं - विगृह्ययान, सन्धानयान, सम्भूययान, प्रसह्ययान और उपेक्षायान।

(४) आसन -

अपनी सामर्थ्य को नष्ट न करके उचित अवसर की प्रतीक्षा में चुपवचाप बैठे रहना आसन है। कामन्दक ने आसन के पांच भेद किये हैं - विगृह्यासन, सन्धायासन, सम्भूयासन, प्रसंगासन और उपेक्षासन।

(५) द्वैधीभाव -

कामन्दक का कथन है कि शत्रु के प्रति वाणी द्वारा आत्मसमर्पण करके भी काकवृत्ति को धारण करना और किसी का विश्वास नहीं करना द्वैधीभाव है[४]। यह दो प्रकार का है - स्वतन्त्र और परतन्त्र।

(६) आश्रय (संश्रय) -

बलवान् शत्रु से अक्रान्त होने पर कुलीन, चरित्रवान्, सत्यशील, बलवान् और श्रेष्ठ राजा का आश्रय लेना आश्रय गुण हैं[५]। मनु और कौटिल्य इसको संश्रय कहते हैं। आश्रयदाता राजा के प्रति प्रीति प्रदर्शित करनी चाहिये तथा उसके मन के अनुकूल आचरण करना चाहिये।

(xix) उपाय -

भारतीय राजशास्त्र में चार उपायों - साम, दान, भेद और दण्ड का बहुत महत्त्व है। कामन्दक ने भी उपायों के सम्यक् प्रयोग पर बहुत बल दिया हैं[६]। प्राचीन आचार्यों ने उपायों के चार भेद कहे थे, परन्तु कामन्दक सात उपायों का वर्णन करते हैं - साम, दान, भेद, दण्ड, माया, उपेक्षा और इन्द्रजाल। इनका संक्षिप्त परिचय निम्न है -

---

१. कामन्दकनीतिसार १०.१।। २. वही ९.७५।।
३. वही .१०.२७।। ४. वही ११, २४।।
५. वही ११.२८।। ६. वही ११.४६-४९।।

Scanned by CamScanner

(१) साम-

शत्रु अथवा बिगड़े मित्र को आश्वासन देना, समझा-बुझा कर अपने अनुकूल कर लेना साम है। इसके पांच भेद हैं - परस्परोपकार, परस्पर गुण-कर्म प्रशंसा, परस्पर सम्बन्ध का कथन, भविष्य के कार्यक्रम का कथन और मधुर वाणी में समझाना।

(२) दान -

शत्रु अथवा बिगड़े मित्र को आश्वासन देना, भूमि तथा धन-धान्य आदि देकर अपने अनुकूल करना दान है। कामन्दक ने इसके भी पांच भेद किये हैं -

(१) देय वस्तु को यथायोग्य लौटा देना
(२) ली गई वस्तु को उसी को दे देने का समर्थन करना
(३) अपनी ओर से भूमि और धन को देने का कार्य करना
(४) शत्रु राजा द्वारा स्वयं ली गई वस्तु का अनुमोदन करना और
(५) लूट में प्राप्त धन में से कुछ छोड़ देना और कुछ का ग्रहण करना[1]।

(३) भेद -

अपने मित्र तथा शत्रु राजाओं में भेद (फूट) डालना भेद उपाय है। कामन्दक ने इसको तीन प्रकार का कहा है -

(१) शत्रु के स्नेही जनों में परस्पर फूट उत्पन्न करने का प्रयास करना।
(२) शत्रु में संघर्ष उत्पन्न करना, अर्थात शत्रु के मन्त्री, सेनापति, मित्र आदि को धृष्टता के व्यवहार के लिये उकसाना और
(३) सन्तर्जन अर्थात् शत्रु और उसके सहायकों में भय उत्पन्न करना।

(४) दण्ड -

शत्रु को दण्डित करने के साधनों को अपनाना दण्ड है। कामन्दक ने दण्ड के तीन भेद कहे हैं -

(१) शत्रु का वध करना,
(२) शत्रु के धन का हरण कर लेना और
(३) शत्रु को शारीरिक कष्ट देना[2]।

दण्ड का प्रयोग दो प्रकार से हो सकता है - प्रकाशदण्ड और अप्रकाशदण्ड।

(५) माया -

उपयुक्त अवसरों पर शत्रु के नाश के हेतु अपने रूप को छिपा कर माया का आश्रय लेना माया उपाय है। माया के अनेक प्रकार हैं, जैसे - इच्छानुसार रूप धारण करना, अश्म (पत्थर) या जल की वर्षा करना, अन्धकार में लीन हो जाना आदि[3]।

(६) उपेक्षा -

अपकार किये जाने पर भी विशेष परिस्थितियों के कारण जानबूझ कर मौन रहना उपेक्षा है। इसके तीन भेद हैं –

---

१. कामन्दनीतिसार १७.६-७।। २. वही १७.९ ।। ३. वही १७.५३।।

Scanned by CamScanner

(१) अन्याय में उपेक्षा करना, (२) व्यसन में उपेक्षा करना, और (३) युद्ध में प्रवृत्त हुये का निवारण न करना[1]।

(७) इन्द्रजाल -

इन्द्रजाल उपाय का प्रयोग शत्रुओं को भयभीत करने के लिये किया जाता है। मेघ, वर्षा, अन्धकार, अग्नि, पर्वत और अन्य भयानक अद्‌भुत वस्तुओं का दर्शन कराना इन्द्रजाल कहलाता है[2]।

(xx) युद्ध -

कामन्दक ने युद्ध को अनिवार्य परिस्थितियों का परिणाम कहा है। सभी उपायों के असफल हो जाने पर युद्ध का सहारा लेना चाहिये। युद्ध के सम्बन्ध में कामन्दक के मन्तव्यों का संक्षेप निम्न है -

(१) युद्ध के भेद -

युद्ध तीन प्रकार का है - प्रकाशयुद्ध, कूटयुद्ध और तूष्णीकयुद्ध। देश-काल और परिस्थितियों के अपने अनुकूल होने पर तथा शत्रु के विपरीत होने पर प्रकाशयुद्ध करना चाहिये। विपरीत परिस्थितियों में कूटयुद्ध या तूष्णीकयुद्ध का सहारा लिया जाता है[3]। प्रकाशयुद्ध में नैतिक नियमों का पालन किया जाता है, परन्तु रात्रि में सोये हुये सैनिकों का वध करना या असावधान शत्रु का वध करना कूटयुद्ध है[4]। कामन्दक ने इसको विहित माना है। कूटयुद्ध द्वारा शत्रु को निश्चय ही मार डालना चाहिये।

छल-कपट द्वारा भय उत्पन्न करना, दुर्गों को ढहा देना, लूट-मार, आग लगाना, असावधान शत्रु पर एकाएक आक्रमण करना, ये सभी कूटयुद्ध के अन्तर्गत हैं। गुप्त रूपसे विष या औषधि का प्रयोग करना, गुप्त पुरुषों द्वारा भेद लेना और शत्रु का वध कराना तूष्णीकयुद्ध हैं।

(२) युद्ध का समय -

अपनी सुविधा और शत्रु की विपत्ति का समय देख कर युद्ध के हेतु आक्रमण करने का निर्देश कामन्दक ने किया है[5]। शत्रु के राज्य में विजय की कामना से प्रवेश करना चाहिये।

(३) मार्ग -

कामन्दक ने युद्धाभियान के तीन प्रकार के मार्ग कहे हैं - सम, विषम और निम्न[6]। सम भूमि में अश्व सेना का और विषम भूमि में गज सेना का अधिक गहत्त्व है।

(४) पक्ष -

युद्ध काल में अपना पक्ष प्रबल होना चाहिये। यह सात प्रकार का है - स्वपक्ष, मित्रपक्ष, सम्बन्धपक्ष, कार्य द्वारा प्राप्त पक्ष, नवोत्पन्न पक्ष, समान आश्रित का पक्ष और उपचारों द्वारा गृहीत पक्ष[7]।

---

१. कामन्दकनीतिसार १७.५५।। २. वही १७.५८-५९।। ३. वही १८.५४।।
४. वही १८.६४-६६।। ५. वही १५.४०।। ६. वही १५.६।। ७.वही १५.२८।।

Scanned by CamScanner

(५) कोप -

युद्धजन्य परिस्थितियों में कामन्दक ने तीन प्रकार के कोप कहे हैं - आभ्यन्तर, बाह्य और दैव। इनमें आभ्यन्तर कोप सबसे अधिक भयावह है। सीमारक्षकों का कोप बाह्य है। अग्नि, जल, व्याधि, दुर्भिक्ष, महामारी ये सब दैव प्रकोप हैं[1]। राजा को तुरन्त ही इनके शमन के उपाय करने चाहियें।

(६) सात छत्र -

युद्धों में सैनिकों की दृष्टि अवरुद्ध करने के लिये कामन्दक ने शत्रुरूप सात छत्रों का उल्लेख किया है - कुहरा, अन्धकार, गोधूति, मेघ, पर्वत, वन और नदी[2]। सेनापति को इनसे सावधान रहना चाहिये।

(७) वृत्त -

कामन्दक ने युद्धकाल में सैनिकों के व्यवहार के विशेष निर्देश किये हैं। सैनिक शिविरों में द्यूत और मद्यपान का निषेध होना चाहियें।

(८) आयुध और युद्ध वाद्य -

आयुधों के सम्बन्ध में कामन्दक ने बहुंम कम कहा है। वे विशेष रूप से धनुष-बाण, खड्ग और नालिकास्त्र का प्रयोग बताते है। सैनिकों को प्रोत्साहित करने के लिये विशेष वाद्यों का प्रयोग भी बताया गया है। इनमे दुन्दुभी और तुरही मुख्य है[3]।

(९) व्यूह-रचना -

व्यूह-रचना भारतीय युद्ध पद्धति की विशेष शैली रखी रही थी। कामन्दक ने अनेक प्रकार के व्यूहों का वर्णन किया है[4] - धनुः, सूची, दण्ड, शकट और मकरध्वज।

(xxi) मण्डल सिद्धान्त -

भारतीय राजशास्त्र के आचार्यों ने राज्यों की विदेश नीति में मण्डल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। कामन्दक ने राजमण्डल के दो विभाग किये थे -

(१) प्रथम विभाग -

राजमण्डल के प्रथम विभाग में चार प्रकार के राज्य कहे गये हैं - विजिगीषु, अरि, मध्यम और उदासीन। वे मण्डल की मूल प्रकृति है[5]। इन्हीं में मित्र का अन्तर्भाव है।

विजिगीषु राजा में विशेष गुण होने चाहियें[6]। वह प्रकृतियों से सम्पन्न, महोत्साही, परिश्रमी, विजयेच्छुक और प्रतापी होता है। अरि दो प्रकार के हैं - सहज और कार्यज[7]। मित्र चार प्रकार के हैं - औरस, कृतसम्बन्ध, वंशक्रमागत और व्यसनरक्षित[8]। मध्यम राजा के सम्बन्ध में कामन्दक ने कौटिल्य का अनुसरण किया है। मध्यम राजा विजिगीषु और

---

१. कामन्दकनीतिसार १३.२०।। २. वही १८.६७।। ३. वही १६.२४-२९।।
४. वही १९.४०।। ५. वही ८.२०।। ६. वही ८.७-१२।।
७. वही ८.५६।। ८. वही ४.७४।।

Scanned by CamScanner

अरि राज्यों की सीमा पर स्थित हुआ विग्रह और अनुग्रह में समर्थ होता है[1]। उदासीन राजा विजिगीषु, अरि और मध्यम इन तीनों से अधिक सबल और विग्रह-अनुग्रह में समर्थ होता है[2]।

(२) द्वितीय विभाग -

राजमण्डल में कामन्दक ने अन्य चार प्रकार के भी राजा कहे हैं - पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहसार और आक्रन्दसार। पार्ष्णिग्राह राजा विजिगीषु राजा का प्रकृत शत्रु है। आक्रन्द राजा विजिगीषु राजा का प्रकृत मित्र है और पार्ष्णिग्राह राजा का प्रकृत शत्रु है। पार्ष्णिग्राहसार राजा पार्ष्णिग्राह राजा का प्रकृत मित्र और आक्रन्दसार राजा आकन्द राजा का प्रकृत मित्र होता है।

(xxii) राजमण्डल -

कामन्दक ने विविध राजमण्डलों के विवरण दिये हैं। विजिगीषु राजा को विशुद्ध मण्डल में विचरण करना चाहिये। अशुद्ध मण्डल में जाने से वह विशीर्ण हो जाता है। विविध राजमण्डल इस प्रकार हैं -

त्रिकमण्डल, चतुष्कमण्डल, षट्कमण्डल, अष्टकमण्डल, दशकमण्डल, द्वादशकमण्डल, षड्विंशत्कमण्डल, प्रकृतिमण्डल, अष्टादशकमण्डल, अष्टोत्तरशतप्रकृतिमण्डल, चतु:पंचाशत्कमण्डल, षट्त्रिंशत्कप्रकृतिमण्डल, एकविंशत्कप्रकृतिमण्डल, अष्टाचत्वारिंशत्कप्रकृतिमण्डल, षष्टिमण्डल और त्रिंशत्कमण्डल[3]।

६. शुक्र

'शुक्रनीतिसार' के रचयिता शुक्र प्राचीन भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध और समादृत व्यक्तित्व के स्वामी हैं। शुक्र का एक पर्याय उशना है। वेदत्रयी (ऋग्यजु:साम) में उशना प्रसिद्ध ऋषि हैं। 'अथर्ववेद' के अनेक मन्त्रों के ऋषि शुक्र हैं। 'महाभारत' और पौराणिक साहित्य में उशना या शुक्र को असुरों का गुरु और पुरोहित कहा गया है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में उशना राजशास्त्र की एक शाखा के प्रवर्तक है। इस प्रकार शुक्र (उशना) का नाम प्राचीन वैदिक ऋषियों में परिगणित होने से वे अति प्राचीन हैं और उनके समय का निर्धारण करना एक अति कठिन कार्य है।

शुक्र के नाम से एक ही कृति 'शुक्रनीतिसार' उपलब्ध है। विषयवस्तु और भाषा के आधार पर इस ग्रन्थ को इतना अधिक प्राचीन नहीं कहा जा सकता। अत: इस ग्रन्थ के प्रणेता उन प्राचीन वैदिक और पौराणिक ऋषि उशना से भिन्न हैं। इस प्रकार 'शुक्रनीतिसार' के प्रणेता के सम्बन्ध में दो बातें कही जा सकती हैं। प्रथम यह कि वर्तमान समय में उपलब्ध 'शुक्रनीतिसार' की रचना किसी अन्य आचार्य ने की होगी, जो शुक्र परम्परा में रहा होगा। ग्रन्थ को प्रसिद्ध करने के लिये उसने अपना नाम भी शुक्र रख लिया होगा। दूसरा यह कि ग्रन्थकार का वास्तविक नाम शुक्र ही होगा, परन्तु वे प्राचीन वैदिक और पौराणिक शुक्र (उशना) से भिन्न रहे होंगे।

---

१. कामन्दकनीतिसार ८.१८।। २. वही ८.१९।।

३. श्यामलाल पाण्डेय : भारतीय राजशास्त्र प्रणेता पृ० २३६-२३९

Scanned by CamScanner

'शुक्रनीतिसार' में जिस समाज का वर्णन है, वह प्राचीन वैदिक समाज से भिन्न है। इस समय तक जन्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था रूढ़ हो चुकी थी। आर्थिक और प्रशासनिक व्यवस्था का सम्यक् विकास हो चुका था। इस ग्रन्थ में देवों की पूजा और देव-मन्दिरों की रचना का विकसित रूप भी दृष्टिगोचर होता है। अत: 'शुक्रनीतिसार' ग्रन्थ गुप्तकाल से पूर्व का नहीं है। विषय-वस्तु के आधार पर इसको 'कामन्दकनीतिसार' का परवर्ती कहा जा सकता है। 'शुक्रनीतिसार' में कुछ उन संस्थाओं - कुल, श्रेणी, गण आदि का वर्णन है, जिनका लोप हर्षवर्धन के समय तक हो चुका था। अत: इस ग्रन्थ को गुप्त एवं हर्ष के समयों के मध्यवर्ती का माना जा सकता है। इस ग्रन्थ में बारूद (आग्नेय चूर्ण) का वर्णन होने में से यह अधिक प्राचीन नहीं हो सकता।

'शुक्रनीतिसार' में पांच अध्याय और २५०७ श्लोक हैं। प्रथम अध्याय में ३८८, दूसरे अध्याय में ४१६, तीसरे अध्याय में ३२१, चौथे अध्याय में १२९६ और पांचवें अध्याय में ८६ श्लोक हैं । इनमें चौथा अध्याय लम्बा है और सात प्रकरणों में विभक्त है। इनमें क्रमश: ११९, १२९, ९८, २०६, ३२३, १४ और ४०७ श्लोक हैं। इस ग्रन्थ में न केवल राजनीति और प्रशासन का उपदेश है, अपितु लेखक के अनुसार उसने समग्र नैतिकता का भी उपदेश दिया है[1]। 'शुक्रनीतिसार' के अनुसार राजशास्त्र का संक्षिप्त रूप इस प्रकार है -

(i) राज्य का उद्भव -

शुक्र ने राज्य के उद्भव के सम्बन्ध में दैवी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध उनका कथन है कि वह आठ देवों-इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र, और कुबेर के देवांशों से संगृहीत किया गया है[2]। परन्तु शुक्र द्वारा प्रतिपादित राजा का देवत्व मनु और भीष्म के देवत्व से भिन्न है। शुक्र के अनुसार राजा तीन प्रकार के हो सकते हैं - सात्त्विक, राजस और तामस। तामस राजा में राक्षसांश की, राजस राजा में मनुष्यांश की और सात्त्विक राजा में देवांश की प्रधानता होती है।

(ii) राज्य

प्राचीन आचार्यों के समान ही शुक्र ने भी राज्य को सप्तांग कहा है। ये सात अंग हैं - स्वामी, अमात्य, सुहृत्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और बल। इनमें राजा प्रमुख है[3]। राज्य रूपी वृक्ष का मूल राजा, तथा मन्त्री शाखायें, सेनापति पत्र-पुष्प, सेना, फल, प्रजा और भूमि बीज है[4]।

---

१. अथ साधारणं नीतिशास्त्रं सर्वेषु चोच्यते।
सुखार्था सर्वभूतानां मता: सर्वा: प्रवृत्तय: ।। शुक्र ३.१।।

२. इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चापि मात्रा निर्हृत्य शाश्वती:।। शुक्र १.७१।।

३. स्वाम्यमात्यसुहृत्कोषराष्ट्रदुर्गबलानि च।
सप्तांगमुच्यते राज्यं तत्र मूर्धा नृप: स्मृत: ।। शुक्र० १.६१।

४. शुक्र० ५.११

Scanned by CamScanner

(iii) राजा -

शुक्र के अनुसार राज्य के सभी अंगों में राजा प्रधान है। राजा के न होने पर प्रजा नष्ट हो जाती है[१]। दुष्ट कर्मों का दण्ड देने के लिये राजा वरुण रूप होता है। राजा के सम्बन्ध में निम्न तथ्य ज्ञातव्य हैं -

(१) राजा के गुण और दुर्गुण -

शुक्र ने राजा के गुणों और दुर्गुणों का सम्यक् विवेचन किया है। राजा को जितेन्द्रिय, गुरुजनों का सेवक, विनयशील, शास्त्राध्यायी, धार्मिक, धर्म के अनुसार धन देने वाला और प्रजानुरागी होना चाहिये। वह ज्ञानरूपी चक्षुओं से इन्द्रियों को वश में करे। मृगया, द्यूत और मदिरापान राजा के प्रमुख दुर्गुण हैं। उसको काम, क्रोध मद, लोभ, मोह और मान इन छः दुर्गुणों का भी परित्याग करना चाहिये[२]।

(२) राजा के कर्तव्य -

राजा का प्रथम कर्तव्य प्रजा का पालन और दुष्टजनों का निग्रह करना है[३]। संक्षेप से उसके आठ कर्तव्य हैं - दुष्टनिग्रह, प्रजापालन, राजसूय आदि यज्ञ, कोष-अर्जन, दिग्विजय, शत्रुमर्दन, भूमिसंग्रह और दान[४]। राजा को न्याय करने में तत्पर रहना चाहिये।

(३) राजा की दिनचर्या -

कौटिल्य के समान शुक्र ने राजा की दिनचर्या का विस्तृत वर्णन किया है। उसने दिन-रात को ३० मुहूर्तों में विभक्त किया था। राजा को चाहिये कि रात के अन्तिम दो मुहूर्तों में उठ कर आय-व्यय पर विचार करे। तदनन्तर एक मुहूर्त में शौचादि, दो मुहूर्तों में सन्ध्या-वन्दनादि, एक मुहूर्त में राजकीय वस्तुओं का निरीक्षण, एक मुहूर्त में न्याय-विचार, एक मुहूर्त में भोजन आदि, दो मुहूर्तों में गुप्तचरों से वार्ता और अन्त में आठ मुहूर्तों में शयन करना राजा की दिनचर्या है। इसको समयोचित कार्य करने चाहियें। समय-समय पर राज्य की अवस्था को स्वयं जाकर आंखों से देखना चाहिये।

(४) उत्तराधिकार -

शुक्र राजतन्त्र के प्रबल समर्थक थे। उत्तराधिकार के सम्बन्ध में उन्होंने वंशपरम्परागत पैत्रिक अधिकार को स्थापित किया है। राजा की मृत्यु के बाद सामान्य रूप से ज्येष्ठ पुत्र राज्य का अधिकारी होता है। परन्तु इस सम्बन्ध में शुक्र ने राजा के गुणों को प्रमुखता दी है। प्रजा के द्वेषी अधार्मिक और गुणहीन राजा का परित्याग करके राजकुल के अन्य गुणी व्यक्ति को राजा बनाना चाहिये।

राजा की नियुक्ति के सम्बन्ध में शुक्र का विचार है कि राजपुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी होता है, अन्य भाई उसके सहायक होते हैं[५]। परन्तु उसको शारीरिक अंगों से पूर्ण होना चाहिये। अंगहीनता एक अयोग्यता है। ऐसा होने पर उसका भाई या

---

१. शुक्रनीतिसार १.६५।। २. वही १.९६-९७।। ३. वही १.७७-८५।।
४. वही १.१२३-१२४।। ५. वही १.३४२।।

Scanned by CamScanner

पुत्र राजा होगा[१]। राजा की चारित्रिक योग्यता भी अनिवार्य है। प्रजा के आचरण का प्रेरक राजा ही होता है[२]। चरित्रहीन राजा उस पद के योग्य नहीं है। राजा की नियुक्ति में प्रजा की अनुमति को भी शुक्र ने आवश्यक बताया है। यदि राजा प्रजा के प्रति द्वेषी है, तो कुलक्रमागत होने पर भी अधार्मिक है। उसको राजपद से हटा देना चाहिये। पुरोहित को चाहिये कि प्रजा की अनुमति से राजकुल के अन्य योग्य व्यक्ति को राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित करे[३]।

(५) राज्याभिषेक -

राजपद की प्रतिष्ठा में राज्याभिषेक मुख्य प्रक्रिया है। इसके विना उसको विधिवत् राजा नहीं माना जा सकता। अनभिषिक्त राजा निन्दनीय और पतित होता है। शुक्र ने पुरोहित को अधिकार दिया है कि वह नव निर्वाचित राजा का राज्याभिषेक करे[४]। इस प्रकार शुक्र ने पुरोहित को राजा पर नियन्ता के रूप में अधिकृत किया था।

(iv) मन्त्रिपरिषद् -

शुक्र ने प्रशासन के संचालन के लिये मन्त्रि-परिषद् को अनिवार्य माना था और योग्य मन्त्रियों की नियुक्ति पर बल दिया था। इस सम्बन्ध में निम्न तथ्य ज्ञातव्य हैं -

(१) आवश्यकता -

राजा अकेले राज्य का संचालन नहीं कर सकता[५]। ऐसा होने पर वह स्वेच्छाचारी हो जाता है और विपत्तियों का भागी होता है। भिन्न-भिन्न मनुष्यों में भिन्न प्रकार का बुद्धि-वैभव होता है। अतः प्रजापालन के महान् कार्य में विद्वान् और बुद्धिमान् मनुष्यों की सहायता लेनी चाहिये[६]। इसके लिये मन्त्रि-परिषद् आवश्यक है।

(२) संख्या -

शुक्र ने मन्त्रि-परिषद् ने आठ या दस सदस्य कहे हैं। दस सदस्यों के पद हैं - पुरोधा, प्रतिनिधि, प्रधान, सचिव, मन्त्री, प्राड्विवाक, पण्डित, सुमन्त्र, अमात्य और दूत[७]। आठ की संख्या में पुरोधा और दूत नहीं हैं।

(३) योग्यता -

शुक्र ने मन्त्रियों की योग्यता पर भी विशेष बल दिया है। मन्त्रि-परिषद् के प्रत्येक सदस्य के लिये विशेष योग्यता आवश्यक है। इसके साथ ही कुछ सामान्य योग्यतायें भी कही गई हैं। ये हैं[८] - कुलीनता, उच्च गुण, आयुवृद्ध होना, शूरता, प्रियवादिता, राजभक्ति, हितोपदेशिता, क्लेशसहिष्णुता, धार्मिक वृत्ति और उच्च चरित्र। शुक्र ने मन्त्रि-परिषद् के दसों सदस्यों की योग्यता, कर्तव्यों और अधिकारों का विस्तृत वर्णन किया है।

---

१. शुक्रनीतिसार १.३४४।। २. वही १. २२ ।। ३. वही २.२६१-२६२।।
४. वही २.२६२।। ५. वही २.१।। ६. वही २.७।। ७. वही २.६९-७०।।
८. कुलगुणशीलवृद्धान् शूरान् भक्तान् प्रियंवदान्।
हितोपदेशकान् क्लेशसहान् धर्मरतान् सदा। शुक्र २.८

Scanned by CamScanner

(iii) राजा -

शुक्र के अनुसार राज्य के सभी अंगों में राजा प्रधान है। राजा के न होने पर प्रजा नष्ट हो जाती है[1]। दुष्ट कर्मों का दण्ड देने के लिये राजा वरुण रूप होता है। राजा के सम्बन्ध में निम्न तथ्य ज्ञातव्य हैं -

(१) राजा के गुण और दुर्गुण -

शुक्र ने राजा के गुणों और दुर्गुणों का सम्यक् विवेचन किया है। राजा को जितेन्द्रिय, गुरुजनों का सेवक, विनयशील, शास्त्राध्यायी, धार्मिक, धर्म के अनुसार धन देने वाला और प्रजानुरागी होना चाहिये। वह ज्ञानरूपी चक्षुओं से इन्द्रियों को वश में करे। मृगया, द्यूत और मदिरापान राजा के प्रमुख दुर्गुण हैं। उसको काम, क्रोध मद, लोभ, मोह और मान इन छः दुर्गुणों का भी परित्याग करना चाहिये[2]।

(२) राजा के कर्तव्य -

राजा का प्रथम कर्तव्य प्रजा का पालन और दुष्टजनों का निग्रह करना है[3]। संक्षेप से उसके आठ कर्तव्य हैं - दुष्टनिग्रह, प्रजापालन, राजसूय आदि यज्ञ, कोष-अर्जन, दिग्विजय, शत्रुमर्दन, भूमिसंग्रह और दान[4]। राजा को न्याय करने में तत्पर रहना चाहिये।

(३) राजा की दिनचर्या -

कौटिल्य के समान शुक्र ने राजा की दिनचर्या का विस्तृत वर्णन किया है। उसने दिन-रात को ३० मुहूर्तों में विभक्त किया था। राजा को चाहिये कि रात के अन्तिम दो मुहूर्तों में उठ कर आय-व्यय पर विचार करे। तदनन्तर एक मुहूर्त में शौचादि, दो मुहूर्तों में सन्ध्या-वन्दनादि, एक मुहूर्त में राजकीय वस्तुओं का निरीक्षण, एक मुहूर्त में न्याय-विचार, एक मुहूर्त में भोजन आदि, दो मुहूर्तों में गुप्तचरों से वार्ता और अन्त में आठ मुहूर्तों में शयन करना राजा की दिनचर्या है। इसको समयोचित कार्य करने चाहियें। समय-समय पर राज्य की अवस्था को स्वयं जाकर आंखों से देखना चाहिये।

(४) उत्तराधिकार -

शुक्र राजतन्त्र के प्रबल समर्थक थे। उत्तराधिकार के सम्बन्ध में उन्होंने वंशपरम्परागत पैत्रिक अधिकार को स्थापित किया है। राजा की मृत्यु के बाद सामान्य रूप से ज्येष्ठ पुत्र राज्य का अधिकारी होता है। परन्तु इस सम्बन्ध में शुक्र ने राजा के गुणों को प्रमुखता दी है। प्रजा के द्वेषी अधार्मिक और गुणहीन राजा का परित्याग करके राजकुल के अन्य गुणी व्यक्ति को राजा बनाना चाहिये।

राजा की नियुक्ति के सम्बन्ध में शुक्र का विचार है कि राजपुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी होता है, अन्य भाई उसके सहायक होते हैं[5]। परन्तु उसको शारीरिक अंगों से पूर्ण होना चाहिये। अंगहीनता एक अयोग्यता है। ऐसा होने पर उसका भाई या

---

१. शुक्रनीतिसार १.६५।। २. वही १.९६-९७।। ३. वही १.७७-८५।।
४. वही १.१२३-१२४।। ५. वही १.३४२।।

Scanned by CamScanner

पुत्र राजा होगा[1]। राजा की चारित्रिक योग्यता भी अनिवार्य है। प्रजा के आचरण का प्रेरक राजा ही होता है[2]। चरित्रहीन राजा उस पद के योग्य नहीं है। राजा की नियुक्ति में प्रजा की अनुमति को भी शुक्र ने आवश्यक बताया है। यदि राजा प्रजा के प्रति द्वेषी है, तो कुलक्रमागत होने पर भी अधार्मिक है। उसको राजपद से हटा देना चाहिये। पुरोहित को चाहिये कि प्रजा की अनुमति से राजकुल के अन्य योग्य व्यक्ति को राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित करे[3]।

(५) राज्याभिषेक -

राजपद की प्रतिष्ठा में राज्याभिषेक मुख्य प्रक्रिया है। इसके विना उसको विधिवत् राजा नहीं माना जा सकता। अनभिषिक्त राजा निन्दनीय और पतित होता है। शुक्र ने पुरोहित को अधिकार दिया है कि वह नव निर्वाचित राजा का राज्याभिषेक करे[4]। इस प्रकार शुक्र ने पुरोहित को राजा पर नियन्ता के रूप में अधिकृत किया था।

(iv) मन्त्रिपरिषद् -

शुक्र ने प्रशासन के संचालन के लिये मन्त्रि-परिषद् को अनिवार्य माना था और योग्य मन्त्रियों की नियुक्ति पर बल दिया था। इस सम्बन्ध में निम्न तथ्य ज्ञातव्य हैं -

(१) आवश्यकता -

राजा अकेले राज्य का संचालन नहीं कर सकता[5]। ऐसा होने पर वह स्वेच्छाचारी हो जाता है और विपत्तियों का भागी होता है। भिन्न-भिन्न मनुष्यों में भिन्न प्रकार का बुद्धि-वैभव होता है। अतः प्रजापालन के महान् कार्य में विद्वान् और बुद्धिमान् मनुष्यों की सहायता लेनी चाहिये[6]। इसके लिये मन्त्रि-परिषद् आवश्यक है।

(२) संख्या -

शुक्र ने मन्त्रि-परिषद् ने आठ या दस सदस्य कहे हैं। दस सदस्यों के पद हैं - पुरोधा, प्रतिनिधि, प्रधान, सचिव, मन्त्री, प्राड्विवाक, पण्डित, सुमन्त्र, अमात्य और दूत[7]। आठ की संख्या में पुरोधा और दूत नहीं हैं।

(३) योग्यता -

शुक्र ने मन्त्रियों की योग्यता पर भी विशेष बल दिया है। मन्त्रि-परिषद् के प्रत्येक सदस्य के लिये विशेष योग्यता आवश्यक है। इसके साथ ही कुछ सामान्य योग्यतायें भी कही गई हैं। ये हैं[8] - कुलीनता, उच्च गुण, आयुवृद्ध होना, शूरता, प्रियवादिता, राजभक्ति, हितोपदेशिता, क्लेशसहिष्णुता, धार्मिक वृत्ति और उच्च चरित्र। शुक्र ने मन्त्रि-परिषद् के दसों सदस्यों की योग्यता, कर्तव्यों और अधिकारों का विस्तृत वर्णन किया है।

---

१. शुक्रनीतिसार १.३४४।। २. वही १. २२ ।। ३. वही २.२६१-२६२।।
४. वही २.२६२।। ५. वही २.१।। ६. वही २.७।। ७. वही २.६९-७०।।
८. कुलगुणशीलवृद्धान् शूरान् भक्तान् प्रियंवदान्।
हितोपदेशकान् क्लेशसहान् धर्मरतान् सदा। शुक्र २.८

Scanned by CamScanner

(४) कार्यप्रणाली -

मन्त्रि-परिषद् का प्रत्येक सदस्य अपने अपने विभाग के कार्यों की देखभाल करता है। सम्बन्धित अभिलेखों को वह अपनी मुद्रा से अंकित करता है[१]। अपने विभाग की समस्या को वह पहले अपने ही विभाग में विचार करके उसके बाद राजा के समक्ष प्रस्तुत करता है। तदनन्तर मन्त्रि-परिषद् के सदस्य उस पर विचार करते हैं। बहुमत के सुझाव पर उस सुझाव को कार्य रूप में परिणत करने का राजा आदेश देता है। मन्त्रि-परिषद् के सदस्य से उसका अभिमत लेखबद्ध भी मांगा जा सकता है। अधिकारपत्र पर मन्त्रिगण के हस्ताक्षर मुद्रासहित होने चाहियें। राजाज्ञा तभी सत्य मानी जाती है, जबकि राजा के हस्ताक्षर मुद्रांकन के साथ हों।

(v) राजकर्मचारी -

शुक्र ने राजकर्मचारियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में विशेष निर्देश दिये हैं। सभी राजकार्यों के क्रियान्वयन को वे राजकर्मचारी ही वहन करते हैं। इस सम्बन्ध में निम्न तथ्यों पर ध्यान देना चाहिये -

(१) योग्यता -

राजकर्मचारी की नियुक्ति में योग्यता का विचार अनिवार्य है। अध्ययन के समय ही विद्यार्थी की योग्यता और सामर्थ्य के अनुरूप नियुक्ति दी जा सकती है[२]। कुल उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना गुण, शील और कर्म हैं। अधिकारी में पद के योग्य योग्यता होनी चाहिये।

(२) वंशपरम्परा -

पिता द्वारा रिक्त पद पर योग्य होने पर पुत्र को स्थान देना चाहियें[३]।

(३) प्रोन्नति और प्रोत्साहन -

शुक्र ने प्रोन्नति को बहुत महत्त्व दिया है। उच्चपदाधिकारी का पद रिक्त होने पर उसके सहायक को प्रोन्नत कर उस पद पर नियुक्त किया जाना चाहियें[४]। प्रोत्साहित करने के लिये विशेष पुरस्कारों का प्रावधान भी शुक्र ने किया है[५]। वेतन का अष्टमांश या अधिक पारितोषिक देना चाहिये[६]।

(४) संख्या -

महत्त्वपूर्ण पदों पर तीन व्यक्तियों की नियुक्तियां होनी चाहियें। इनमें एक मुख्य अधिकारी हो तथा दो उसके सहायक हों[७]।

(५) पदच्युति और दण्ड -

कर्मचारी को पदच्युत करने का भी शुक्र ने किन्हीं अवस्थाओं में निर्देश किया है। इसके मुख्य हेतु हैं - कर्मचारी में पद के लिये उचित योग्यता का अभाव और असमर्थता, जनप्रियता का न होना, प्रजा द्वारा शिकायत, आचरण की भ्रष्टता, गुणों से च्युत होना और

---

१. शुक्रनीतिसार २.३५९-३६१।। २. वही १.३६९।। ३. वही २.११२,३९६।।
४. वही २.११३।। ५. वही २. ४०१-४०६।। ६. वही २.३८५।। ७. वही २.१०७।।

Scanned by CamScanner

व्यसनों में फंस जाना। कर्तव्य-पालन में प्रमाद करने पर कर्मचारी को दण्डित किया जा सकता है। इसके लिये वाग्दण्ड, अर्थदण्ड और कायदण्ड दिये जा सकते हैं[१]।

(६) निरीक्षण -

कर्मचारी के कार्य का समय समय पर निरीक्षण और मूल्यांकन होना चाहिये। इसके आधार पर उसकी प्रोन्नति या पदावनति होनी चाहियें[२]।

(७) स्थानान्तरण -

एक ही स्थान पर कार्य करते रहने से प्रमाद, उदासीनता आदि दुष्प्रभाव उत्पन्न हो सकते हैं। अतः कर्मचारी के कौशल के अनुसार स्थानान्तरण होते रहना चाहियं[३]।

(८) वेतन-निर्धारण -

कार्य के अनुसार सेवक तीन प्रकार के हैं - मन्द, मध्य और श्रेष्ठ। इसी के अनुसार इनके वेतन भी सम, मध्य और श्रेष्ठ होने चाहियें[४]। सेवक को योग्यता के अनुसार वेतन मिलना चाहिये। वेतन को रोकना या विलंम्बित करना उचित नहीं है। इससे सेवक के साथ ही उसका परिवार भी कष्ट पाता है और वह भ्रष्ट हो सकता है।

(vi) कोष -

राजकीय आय-व्यय में कोष का बहुत अधिक महत्त्व है। आय के विभिन्न साधनों तथा व्यय के मार्गों का शुक्र ने वर्णन किया है।

(१) आय के साधन -

शुक्र ने विविध करों का उल्लेख किया है और आय के अन्य साधन भी कहे हैं कर, दण्ड, उपायन, विजय, और अपहरण। इनका विवरण निम्न है :-

(अ) **भूमिकर** - भूमिकर को शुक्र ने भाग नाम दिया है। भूमि को तीन श्रेणियों - बहु, मध्य और अल्प में विभक्त करके तदनुसार उनकी उपज में राजा का भाग होता है।

(आ) **आकरकर** - खानों से प्राप्त धातुओं, रत्नों, नमक आदि से विविध लाभांश राज्य को प्राप्त होते हैं[५]।

(इ) **भाटककर** - राजमार्गों और आवागमन के अन्य साधनों पर यह कर लिया जाता था।

(ई) **शुल्क** - यह क्रय-विक्रय कर है और वस्तु के व्यापार पर एक ही बार लगाया जाता था[६]। यह कर शुद्ध लाभ पर होना चाहिये।

(उ) **दण्ड** - विविध अपराधों के लिये अर्थदण्ड राजकीय आय के साधन थे।

(ऊ) **उपायन**- विशेष अवसरों - पुत्र-जन्म, जन्मदिवससमारोह, यज्ञ उत्सव आदि पर प्रजाजनों और करद राजाओं द्वारा उपायन राजकीय आय के अच्छे साधन थे।

(ए) **विजय** - शत्रु राजा को जीत कर प्राप्त धन से राजकोष की वृद्धि होती है। धार्मिक राजा को चाहिये कि दुष्ट राजा को पराजित करके उसके धन से अपने राजकोष की वृद्धि करे[७]।

---

१. शुक्रनीतिसार १.३७७-३७९।। २. वही १.३७५-३७६।। ३. वही २.११०।।
४. वही २.३९६।। ५. वही ४.२.११६-११७।। ६. वही ४.२.१०८-१०९।। ७. वही ४.२.७

Scanned by CamScanner

(ऐ) अपहरण - शुक्र ने व्यवस्था दी है कि अपात्र के धन का राजा अपहरण कर ले। इससे वह पाप का भागी नहीं होता[1]।

(२) व्यय के मार्ग -

राजकीय कोष का व्यय मुख्यत: तीन प्रकार के कार्यों में होता है - सैन्य की व्यवस्था, प्रजारक्षण, जनहित के कार्य तथा यज्ञ। भोग-विलास के लिये कोष का व्यय करने पर राजा नरक में जाता है तथा परलोक में सुखी नहीं होता[2]।

(vii) न्याय-व्यवस्था -

शुक्र ने दुष्टों को दण्डित करने और सज्जनों की रक्षा करने के लिये न्यायालयों की व्यवस्था दी है। न्याय विभाग का कर्तव्य है कि अभियोगों की सुनवाई करके उनका निर्णय करे। न्यायालयों की व्यवस्था के लिये निम्न तथ्य द्रष्टव्य हैं -

(१) स्थानीय न्यायालय -

यह एक प्रकार की पंचायत प्रथा थी। पारस्परिक सद्भावना से विवादों के निर्णय हो जाते थे। स्थानीय लोग मूल विवादों से परिचित होने के कारण अधिक न्याययुक्त निर्णय दे सकते हैं। यह न्यायालय सर्वसाधारण की अधिक पहुंच में भी है। शुक्र का कथन है कि हिंसक, कारीगर, शिल्पी, ब्याज पर धन देने वाले व्यापारिक संघ, नर्तक, संन्यासी और चोर, ये सब धर्म को साक्षी करके परस्पर विवादों का निर्णय कर लें। ये निर्णय उन्हीं की जाति द्वारा होने चाहिय[3]। मायावी और तान्त्रिक लोगों का निर्णय राजा को स्वयं नहीं करना चाहिये। व्यापारी तथा बनवासी अपने निर्णय अपने संघ में करें[4]। स्थानीय न्यायालयों को शुक्र ने कुल, श्रेणी और गण के नाम से सम्बोधित किया है।

स्थानीय न्यायालय के निर्णय पर अपील की जा सकती है। शुक्र का मत है कि यह अपील निम्न कम से होगी - कुल, श्रेणी, गण, राज्याधिकारी, अध्यक्ष और अन्त में स्वयं राजा।

(२) राजा द्वारा स्थापित न्यायालय -

शुक्र ने राजा द्वारा स्थापित न्यायालयों का क्रम इस प्रकार दिया है - साहसाधिपति का न्यायालय, सभ्य न्यायालय, अध्यक्ष न्यायालय, और न्यायसभा। न्यायसभा राजा के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में होती है तथा यह सर्वोच्च न्यायालय है।

(३) न्याय की प्रक्रिया -

वादी स्वयं न्यायालय में जाकर या अपने प्रतिनिधि को भेज कर वाद को प्रस्तुत कर सकता है। वादी-प्रतिवादी दोनों पक्षों को सुन कर वाद का निर्णय किया जाता है। व्यवहार (मुकदमे) के चार पक्ष हैं - पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, क्रियापाद और निर्णय। निर्णय में प्रमाण का महत्त्व है। वे तीन प्रकार के हैं - साक्ष्य, लिखित और भोग। निर्णय करने के लिये न्यायाधीश को गुप्त अन्वेषण, युक्तिप्रयोग और शपथ का आश्रय लेना चाहिये[5]।

---

१. शुक्रनीतिसार ४.२.६।। २. वही ४.२.३।। ३. वही ४.५.४६।।
४. वही ५.४७-५०।। ५. वही ४.५.१५७-१५८।।

Scanned by CamScanner

शुक्र का कथन है कि वादों की सुनवाई में प्राड्विवाक का महत्त्वपूर्ण भाग है तथा पण्डित विधि (कानून) सम्बन्धी परामर्श देता है। वादों की सुनवाई खुले में होनी चाहिये। राजा को स्वयं अकेले निर्णय नहीं करना चाहिये। वादों की सुनवाई के समय सभ्यों, वकीलों, साक्षियों और प्रमाणों का महत्त्व है।

(viii) राष्ट्र -

शुक्र ने राजा के आधीन भू-भाग को राष्ट्र कहा है[1]। इसमें छोटी बड़ी विविध आबादियां होती हैं। इनको मुख्यत: दो भागों में बांटा जा सकता है - ग्राम और पुर।

(१) ग्राम -

ग्राम की आबादी के तीन भाग हैं - कुम्भ, पल्ली, और ग्राम। ग्राम की चौथाई या पल्ली की आधी आबादी कुम्भ होती है। ग्राम और कुम्भ के मध्य की आबादी पल्ली है। पल्ली से बड़ी और पुर से छोटी आबादी ग्राम है। राजा को एक ग्राम से १००० कर्ष कर मिलना चाहिये। शुक्र ने ग्रामों के घरों, कुओं, नालियों, मार्गों, पानी और मल-मूत्र के निकासों के समुचित निर्माण के सम्बन्ध में नियमों का विधान किया है। वृक्षों के रोपण के सम्बन्ध में भी निर्देश हैं। ग्रामों में प्रहरियों की भी समुचित व्यवस्था होनी चाहिये।

ग्राम के प्रशासन के लिये ६ मुख्य पदाधिकारी होने चाहियें - साहसाधिपति, ग्रामनेता (ग्रामप), भागहर, लेखक, शुल्कग्राहक और प्रतिहार[2]।

शुक्र ने यात्रियों की सुरक्षा तथा सुविधा का निर्देश दिया है। दो ग्रामों के मध्य में एक पान्थशाला होनी चाहिये[3]। यहां एक अधिकारी रहता है। यात्रा के मार्ग सुरक्षित और सुसंस्कृत हों। इस हेतु कर भी लगाया जा सकता है[4]।

(२) पुर -

पुरों (नगरों) के प्रबन्ध के लिये भी शुक्र ने उन्हीं ६ अधिकारियों का कथन किया है, जो ग्रामों के लिये हैं। नगरों में बाजारों की व्यवस्था विशेष है। एक प्रकार की वस्तुओं के बाजार एक ओर होने चाहियें[5]। बाजारों की व्यवस्था और नियन्त्रण के लिये अध्यक्ष या अधिपति होना चाहिये। राजमार्ग के दोनों ओर धनिकों के गृह हों।[6]

शुक्र द्वारा विहित राजधानी की रचना अति वैज्ञानिक है। सभाभवन का वर्णन उत्तम है। पद्या (तीन हाथ चौड़ी गली) और मार्गों (दस हाथ चौड़ी सड़क) का निर्माण नगर के आकार-प्रकार के अनुसार होने चाहिये[7]।

(ix) सेना -

शुक्र ने ६ प्रकार के बलों का संकेत किया है - सैन्यबल, अस्त्रबल, बुद्धिबल, शारीरिकबल, आत्मबल और आयुबल[8]। इस सम्बन्ध में निम्न तथ्य विचारणीय हैं।

---

१. शुक्रनीतिसार ४.३.२।। २. वही २.११८-११९।। ३. वही १.२५७-२६९।।
४. वही १.२६०-२६५।। ५. वही १.२५८।। ६. वही २.२५९।।
७. वही १.२६२।। ८. वही ४.७.५।।

Scanned by CamScanner

(१) सेना -

राज्य में शान्ति और सुव्यवस्था सेना से होती है। आन्तरिक और बाह्य सुरक्षा के लिये सेना अनिवार्य है। राजा के पास सुसज्जित और सुसंगठित सेना होनी चाहिये।

(२) सैन्य-संगठन -

शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित तथा सैन्य-शिक्षा से सुशिक्षित मनुष्यों का समूह सेना है[१]। इसके दो विभाग हैं - स्वगमा और अन्यगमा। पैदल सेना स्वगमा और वाहनयुक्त सेना अन्यगमा है। इनके पुनः तीन भेद हैं - मानवी, आसुरी और दैवी। पुनः इनके दो भेद हैं - स्वीय सेना और मित्रसेना। पुनः इनके दो भेद हैं - मौल (नियमित सेना) और साद्यस्क (आपातकाल में भर्ती) सेना। इसके पुनः दो भेद हैं - सार और असार। इसके पुनः दो भेद हैं - शिक्षित और अशिक्षित। इसके भी पुनः दो भेद हैं - गुल्मीभूत और अगुल्मीभूत[२]। इनके अतिरिक्त आरण्यक सेना और शत्रुसेना भी कही गई है।

(३) सेना के अंग -

शुक्र ने चतुरंगिणी सेना का वर्णन किया है - पदाति, गजारोही, अश्वारोही, और रथारोही। सेना के लिये भारवाहन, चिकित्सासेवा, समाचारवाहक, गुप्तचर, लेखक आदि भी होने चाहियें।

(x) युद्ध -

दो राजाओं में शत्रु भाव उत्पन्न होकर परस्पर संघर्ष करना युद्ध है। शुक्र ने युद्ध के पांच प्रकार कहे हैं - दैविक युद्ध, आसुर युद्ध, मानव युद्ध, शस्त्रयुद्ध, और बाहुयुद्ध[३]। नियमों के आधार पर भी युद्ध के दो भेद हैं - धर्मयुद्ध और कूटयुद्ध। शुक्र ने भीष्म और मनु के आधार पर ही धर्मयुद्ध का वर्णन किया है।

(xi) दुर्ग -

शुक्र ने दुर्गों के अनेक भेद कहे हैं - ऐरिण, पारिख, पारिघ, वन, धन्व, गिरि, जल, सैन्य और सहाय[४]। इनमें पारिख से ऐरिण दुर्ग श्रेष्ठ है, ऐरिण से पारिघ, पारिघ से वन, वन से धन्व, धन्व से जल और जल से गिरि दुर्ग उत्तम होता है[५]।

(xii) षाड्गुण्य -

प्राचीन राजशास्त्रियों के समान ही शुक्र ने षाड्गुणी मन्त्र - सन्धि, विग्रह, यान,आसन, संश्रय और द्वैधीभाव का वर्णन किया है[६]। उनके अनेक भेद हो सकते हैं।

(xiii) उपाय -

प्राचीन आचार्यों के समान ही शुक्र ने भी चार उपायों का वर्णन किया है - साम, दान, दण्ड, और भेद[७]। इनके विवरण भी अन्य प्राचीन आचार्यों के समान ही हैं।

---

१. शुक्रनीतिसार ४.७.१।। २. वही ४.७.२९।। ३. वही ४.७.३१९-३२३।।
४. वही ४.६.१-५।। ५. वही ४.६.६।। ६. वही ४.७.२२२।। ७. वही २.९४।।

Scanned by CamScanner

एम.ए.पी.एस. - 01

खंड-1 : भारतीय राजशास्त्र : उद्भव एवं विकास

इकाई-1 : भारतीय राजशास्त्र का प्रारंभिक स्वरूप : एक सिंहावलोकन

इकाई की रूपरेखा

1.1.01. उद्देश्य
1.1.02. प्रस्तावना
1.1.03. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन का आशय एवं महत्व
1.1.04. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन के विविध नाम
1.1.05. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन का महत्व
1.1.06. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन के स्रोत
1.1.06.1. देशी अथवा भारतीय स्रोत
1.1.06.2. विदेशी स्रोत
1.1.06.3. पुरातत्व, अभिलेख, मुद्राएँ, स्मारक, मूर्तियाँ और स्तूप
1.1.07. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन विकास के चरण
1.1.08. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन की विशेषताएँ
1.1.09. मूल्यांकन
1.1.10. स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न के उत्तर
1.1.11. सारांश
1.1.12. शब्दावली
1.1.13. बोध
1.1.14. निबंधात्मक प्रश्न
1.1.15. संदर्भ ग्रंथ सूची

1.1.01. उद्देश्य

इस इकाई को अध्ययन के उपरांत आप -

1. प्राचीन भारतीय चिंतन को समझ सकेंगे।
2. प्राचीन भारतीय चिंतन को मुख्य स्रोतों को जान सकेंगे।
3. प्राचीन भारतीय चिंतन की मुख्य विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे।
4. प्राचीन चिंतन पर देशी प्रभाव तथा विदेशी प्रभाव को जान सकेंगे।
5. पाश्चात्य राजनैतिक चिंतन तथा भारतीय राजनैतिक चिंतन के अंतर को स्पष्ट कर सकेंगे।

1.1.02. प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय चिंतन का इतिहास अत्यधिक प्राचीन है। यह वैदिक काल से प्रारंभ होकर मुगल काल तक माना जाता है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि गुलामी के समय इस भ्रम को फैलाया गया कि प्राचीन भारतीय चिंतन अति साधारण स्तर का है। कुछ विद्वानों ने इसे आदर्शवादी अव्यावहारिक माना। भारत के वेद पुराण उपनिषद प्राचीन भारतीय चिंतन के उत्कर्ष उदाहरण है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र चिंतन के आद्युनिक स्वरूप का आदर्श उदाहरण है। प्लेटो के समकालीन कौटिल्य का दर्शन व्यावहारिक है। भारतीय चिंतन व्यावहारिक ही नहीं अत्यधिक उपयोगी है। भारतीय चिंतन का मूल मानव है व मानव के चारों ओर घूमता है। पाश्चात्य चिंतन में मानव 18वीं शताब्दी में केंद्र बिंदु बना। जबकि भारतीय चिंतन में यह प्रारंभ से ही है। भारतीय चिंतन को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। कभी इसे राजधर्म, राजशास्त्र, दंडनीति तथा नीतिशास्त्र के नाम से जाना जाता है। पंचतंत्र में इसे नृपतंत्र कहा जाता था।

प्राचीन भारतीय चिंतन के अनेक स्रोत है, इसमें मुख्य रूप से प्राचीन साहित्य, वेद पुराण, धर्मशास्त्रों, उपनिषदों, महाकाव्यों, जैन ग्रथों तथा बौद्ध जातकों को शमिल किया जाता हैं। इसके अलावा समय-समय पर विभिन्न रचनाओं जैसे अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, शुक्रनीतिसार ने भी इसमें योगदान दिया है। इसमें ह्वेनसांग एवं फाह्यान का विवरण भी उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त पुरातन अवशेष गुफालेख, शिलालेख, स्तंभलेख, ताम्रलेख आदि को शामिल किया जाता है। प्राचीन भारतीय चिंतन के स्रोत के रूप में मुद्राओं की भी महत्वपूर्ण भूमिका रहीं है।

प्राचीन भारतीय चिंतन में धर्म एवं राजनीति को एक साथ जोड़कर देखा जाता है। इसमें आध्यात्मिकता पर बल है। भारतीय चिंतन में राज को आवश्यक माना जाता है। इसमें राज का कार्यक्षेत्र अत्यंत व्यापक है। इसमें दंड की कठोर की व्यवस्था है। संपूर्ण प्राचीन भारतीय चिंतन का दृष्टिकोण व्यावहारिक हैं और राजा का कार्यक्षेत्र व्यापक है।

1.1.03. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन का आशय

प्राचीन भारतीय चिंतन का इतिहास अति प्राचीन है। यह वैदिक काल से प्रारंभ होकर मुगलकाल तक माना जाता है। आज से हजारों वर्ष पूर्व जब दुनिया में चिंतन का विस्तार नहीं हो पाया था तब उस समय भी भारतीय राजनैतिक एवं सामाजिक चिंतन सर्वोच्च शिखर पर था। यह गौरवशाली परंपरा वैदिक काल से आज तक बनी हुई है।

औपनिवेशिक काल में कतिपय पाश्चात्य विचारकों ने इस भ्रम को फैलाया कि भारत का प्राचीन चिंतन अति साधारण है। इसमें कुछ भी उल्लेख करने योग्य नहीं है। उनमें से कुछ विद्वानों ने इसे निरा आदर्शवाद, अव्यावहारिक रहस्यवाद से भरा हुआ बताया। इस भ्रम को मैक्स मूलर, डनिग जैसे पूर्वाग्रह से ग्रस्त विद्वानों ने आगे बढ़ाया । समय गुजरने के साथ नए तथ्य सामने आए और फैलाया गया भ्रम टूट गया। नए तथ्यों ने स्पष्ट किया कि प्राचीन

भारतीय चिंतन पाश्चात्य राजनैतिक चिंतन से अत्यधिक प्राचीन एवं प्रासंगिक है। भारत में प्लेटो एवं अरस्तू से शताब्दियों पूर्व राजनैतिक का व्यापक विवरण मिलता है। भारत के वेद, पुराण एवं उपनिषद प्राचीन भारतीय चिंतन की उत्कृष्ट नमूने है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र चिंतन के आधुनिक स्वरूप का उदाहरण है। अरस्तू के समकालीन कौटिल्य का संपूर्ण दर्शन व्यावहारिक है तथा यह सिद्ध करता है कि भारत का चिंतन कहीं भी पीछे नहीं है। यहाँ पर मैक्सी का कथन प्रासगिंक हो जाता है जब वह कहते है-"हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत का राजनैतिक इतिहास यूरोप के राजनैतिक इतिहास से अधिक प्राचीन है और राजनैतिक विचारों की दृष्टि से निष्फल भी नहीं है।" एशियाटिक सोसायटी के उदय के साथ स्थिति में बदलाव प्रारंभ हुआ। ब्रिटेन की बदली परिस्थितियों में भारतीयों की संस्कृति एवं इतिहास की जानकारी की आवश्यकता महसूस की गई। यहीं से भारतीय चिंतन का नया स्वरूप दुनिया के सामने आया।

1.1.04. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन का महत्व

दुनिया में अनेक विद्वान राजनैतिक चिंतन को अनुपयोगी एवं हानिपद्र मानते है। इसमें मुख्य रूप से बेकन, लेस्ली, स्टीफन, बर्क, डनिंग आदि प्रमुख हैं। स्टीफन तो कहता है कि -"वे देश भाग्यशाली है, जिनके पास कोई राजनैतिक दर्शन नहीं है क्योंकि ऐसा तत्व चिंतन निकट भविष्य में होने वाली क्रांतिकारी उथलपुथल का सूचक होता है।" डनिंग का स्पष्ट मत था कि - "जब कोई राजनैतिक पद्धति राजनैतिक दर्शन का स्वरूप ग्रहण करने लगे तो समझ लेना चाहिए कि उसके विनाश की घड़ी आ गई है।"

उपरोक्त कथन चिंतन को अनुपयोगी मानते है। वे इसे आदर्शवादी, काल्पनिक तथा भ्रम पैदा करने वाला मानते हैं। वे तर्क देते हैं कि अच्छे विचारक प्रायः अच्छे शासक नहीं होते हैं। वे कहते हैं कि सैद्धांतिक ज्ञान व्यावहारिक नहीं होता है तथा व्यावहारिक ज्ञान सिद्धांत पर खरा नहीं उतरता है। प्लेटो इसका आदर्श उदाहरण है। वह अपने आदर्श राज्य को मूर्त रूप देने में पूर्णतः असफल रहा। इसका दूसरा दोष यह है कि अधिकांश विचार परिस्थिति जन्य होते हैं। अतः उनका सामान्यीकरण करते हुए सिद्धांत नहीं बनाया जा सकता। राजनैतिक दर्शन में हाल्स, रूसो तथा मैकियावेली के मानव संबंधी विचार तत्कालीन समाज की देन थे। कतिपय यही कारण था कि तत्कालीन परिस्थितियों में उपजी निराशा, हताशा ने उनके विचार को मानव के प्रति नकारात्मक बना दिया था। उपरोक्त दोष के होते हुए भी चिंतन का अध्ययन मानवोपयोगी है। इससे होने वाले लाभ निम्नलिखित हैं-

1. राज्य और उसका मूर्त रूप सरकार है। यह मानव से निर्मित है तथा मानव के इर्द-गिर्द ही घूमता है। अतः मानव के संबंध में विचार करना, विभिन्न प्रश्नों पर विचार करना सदैव से मानव तथा समाज के लिए लाभदायक रहा है।

2. राजनीतिक चिंतन का मानव के साथ घनिष्ट संबंध रहा है। विद्वानों द्वारा समय-समय पर प्रतिपादित विभिन्न सिद्धांतों ने मानव को बहुत लाभ पहुँचाया है। रूसो के विचारों ने 18 वीं शताब्दी में फ्रांसीसी क्रांति को जन्म दिया और इसी क्रांति से समानता, स्वतंत्रता तथा भाईचारे का विचार सामने आया। मार्क्स ने 20वीं शताब्दी में "बोल्शेविक क्रांति" को जन्म दिया। इसी से साम्यवादी विचारधारा का उदय हुआ।
3. राजनीतिक चिंतन से एक अलग प्रकार का लाभ यह होता है कि यह विभिन्न प्रकार की गई शब्दावलियों, सिद्धांतों को जन्म देता है। इसमें प्रमुख रूप से राष्ट्रीयता, लोककल्याणकारी राज्य, व्यक्तिवाद, पंथनिरपेक्षता आदि प्रमुख है।
4. राजनीतिक चिंतन के अध्ययन से एक अन्य लाभ यह होता है, इससे हमें ऐतिहासिक घटनाओं को समझने और उसकी व्याख्या करने में सहायता मिलती है।
5. इससे वर्तमान घटनाओं को समझने में सहायता मिलती है। वर्तमान समस्याओं की जड़ सदैव इतिहास में रहती है। अतः उसका निवारण भी इतिहास से आता है। चिंतन समस्या का निवारण ही नहीं करता वरन् भविष्य में आने वाली समस्याओं का हल एवं मार्गदर्शन प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार से स्पष्ट है कि चिंतन का अध्ययन प्रत्येक दृष्टि से लाभप्रद है। यह स्वाभाविक प्रक्रिया है जो लंबे समय से चली आ रही है।

1.1.05.प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन के विविध नाम

राजनीतिक चिंतन को प्राचीन समय में विभिन्न नामों से पुकारा जाता था। यह समयानुसार न केवल नाम वरन् अपनी लोकप्रियता को खोता एवं पाता रहा है। यहाँ पर प्रो0 अलतेकर का कथन प्रांसगिक हो जाता है जब वह कहते है- "राजधर्म, राजशास्त्र, दंड नीति, नीतिशास्त्र अर्थशास्त्र आदि नामों से प्राचीन भारत में राजनीति शास्त्र को संबोधित किया गया है।" विभिन्न धार्मिक ग्रथों में इसके विविध नाम दिखाई पड़ते हैं, जैसे विभिन्न स्मृतियों में इसे राजधर्म, महाभारत में इसे राजशास्त्र, दंडनीति तथा अर्थशास्त्र कहा गया। पंचतत्र में इसे नृपतंत्र कहा गया। इसको दंडनीति पुकारने का आधार भी बहुत स्पष्ट है। बहुत से विद्वान राजसत्ता का अंतिम आधार दंड को ही मानते हैं। वे मानते हैं कि राजनैतिक सत्ता यदि कानून तोड़ने वालों को दंड नहीं देगी तो अराजकता उत्पन्न हो जाएगी। अतः दंड द्वारा ही भय उत्पन्न कर व्यवस्था लाई जा सकती है। अतः राजनीतिक चिंतन को दंड नीति का पुकारा गया।

कौटिल्य ने इस धारणा को अस्वीकार किया। उसकी मान्यता थी कि दंड से भय उत्पन्न होता है। वे कहते है कि कानून तोड़ने वालों को दंडित करने से जनता स्वतः कानूनों का पालन करने की ओर बढ़ती है। मनु ने दंड देने वाली मानवीय सत्ता को राजा नहीं माना वरन् दंड को शासक माना। ऐसे में शासक को कर्तव्य तथा समाज को बताने वाले शास्त्र को दंडनीति के नाम से जाना जाता है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र वास्तव में शासननीति का ही विवरण था।

नीतिशास्त्र शब्द में नीति का अर्थ सही मार्ग दिखाने से लिया जाता है। उचित अनुचित में अंतर बताने वाला शास्त्र नीतिशास्त्र के नाम से जाना जाता है। भर्तृहरि का प्रसिद्ध नीति शतक उस विशाल अर्थ में नीति की चर्चा करता है। कामदंक एवं शुक्र के शासन संबंधी ग्रंथ नीति शास्त्र के नाम से जाना जाता है। वे इसे राज्य शास्त्र या दंड नीति के नाम से नहीं पुकारते हैं। कौटिल्य ने अपने शासन संबंधी ग्रंथ को अर्थशास्त्र कहा। कौटिल्य की मान्यता थी कि 'अर्थ' शब्द से व्यक्ति का व्यवसाय स्पष्ट होता है। साथ ही वह भूमि भी इंगित होती है जिस पर रहकर व्यवसाय किया जाता है। अतः उस भूमि को प्राप्त करना तथा उसको बताएँ रखने का शास्त्र ही अर्थशास्त्र है। शुक्रनीति में स्पष्ट किया गया है कि अर्थशास्त्र का क्षेत्र न केवल संपति प्राप्ति के उपायों की चर्चा करना है, वरन् शासन शास्त्र के सिद्धांतों को भी स्थापित करना है। क्रामंदक के समय में जो नीति शब्द राज्य की नीति के संबंध में प्रयुक्त किया जाता था वही जब सामान्य आचरण के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा है। राजनीति तो इसका एक हिस्सा है। ऐसे में राज्य से संबंध रखने वाले नियमों तथा तथ्यों को आचरण के अन्य पहलुओं से अलग दिखाने के लिए नीति शब्द के साथ "राज" शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। डॉ. भंडारकर के शब्दों में-"जब नीति शब्द का प्रयोग सामान्य आचरण के नियमों के लिए किया जाने लगा तो यह आवश्यक हो गया कि उनको राजा के आचरण नियमों से अलग करने के लिए राजनीतिक शब्द का प्रयोग किया जाय।"

प्राचीन भारत में राजशास्त्र का व्यापक प्रभाव रहा है। महाभारत में स्पष्ट किया गया है, जिस प्रकार हाथी के पैर में सबका पैर आ जाता है उसी प्रकार राजशास्त्र में सभी शास्त्र आ जाते हैं। यह संकुचित विषय न होकर व्यापक विषय था। इसमें आने वाले विषय को धर्म से अलग नहीं रखा गया था। इसमें सामाजिक व्यवस्था, धर्म और राजा की सत्ता आदि के साथ ग्रंथ कई बातें सम्मिलित थी। इसमें जनकल्याणकारी कार्य भी शामिल थे।

1.1.06. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन के स्रोत

प्राचीन भारतीय चिंतन के अनेक स्रोत है। इसमें मुख्य रूप से प्राचीन साहित्य जैसे वेद, पुराण, धर्म सूत्रों, धर्म शास्त्रों, उपनिषदों, महाकाव्यों, जैन ग्रथों तथा बौद्ध जातक शमिल हैं। इनके अतिरिक्त समय-समय पर विभिन्न विद्वानों की रचनाओं जैसे कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कांमदकीय नीतिशास्त्र, शुक्र नीति आदि प्रमुख हैं। इसी समय अनेक शासकों के समय विदेशी विद्वानों ने उनके राज्य का न केवल भ्रमण किया वरन् व्यापक सामायिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनैतिक विश्लेषण अपने ग्रथों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया। इसमें फाह्यान एवं ह्वेनसांग का विवरण उल्लेखनीय है। कुछ संस्कृत के विद्वानों; जैसे पाणिनी के व्याकरण, अष्टध्यायी, कालीदास के रघुवंश, विशाखदत्त के मुद्रा राक्षस से भी जानकारी मिलती है। यहाँ पर डॉ. जयसवाल का कथन प्रांसगिक हो जाता है-"हमें इस विषय का ज्ञान कराने वाले साधन हिंदू साहित्य के विस्तृत क्षेत्र में मिलते हैं। वैदिक संस्कृत तथा प्राकृत ग्रथों और इस देश के

शिलालेखों तथा सिक्कों में रक्षित लेखों में हमें इस विषय की बहुत-सी बातें प्राप्त होती है। सौभाग्य से इस समय हिंदू राजनीति शास्त्र के कुछ मूल ग्रंथ भी उपलब्ध है।"

भारतीय चिंतन के स्रोत को अध्ययन की सुविधा के लिए निम्न भागों में बांट सकते हैं-

1. देशी अथवा भारतीय स्रोत
2. विदेशी स्रोत
3. पुरातत्व, अभिलेख, मुद्राएँ, स्मारक, मूर्तियाँ और स्तूप

1.1.06.1. देशी अथवा भारतीय स्रोत

देशी अथवा भारतीय स्रोत में अनैतिहासिक साहित्य एवं इतिहास परक साहित्य दोनों शामिल हैं। इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण वैदिक साहित्य हैं, जिसमें मुख्य रूप से वेद उनकी संहिताएँ, ब्राह्मण ग्रंथ और सूत्र सम्मिलित है। वैदिक साहित्य के बाद महाकाव्यों जैसे रामायण, महाभारत का स्थान आता है। इसके अतिरिक्त अन्य धर्म के साहित्य जैसे बौद्ध साहित्य, जैन साहित्य आदि का भी उल्लेखनीय योगदान है। भारतीय चिंतन की स्पष्ट झलक कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र में भी दिखाती है। भारतीय चिंतन के भारतीय स्रोत निम्नलिखित हैं-

1. वेद :- भारतीय धार्मिक साहित्य के सबसे प्राचीन ग्रंथ वेद है। यह चार भागों में हैं, जिनको ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद आदि हैं। इनमें वेदों के माध्यम से शासन तथा राज्य की उत्पति के सिद्धांतों का पता चलता है। इसमें राजा के अधिकार, राजा-प्रजा संबंध तथा शासन नीतियों का विस्तृत मिलता है। वास्तव में वेद प्राचीनतम स्रोत है। इनसे तत्कालीन राजनीति तथा पद्धति का अच्छा ज्ञान होता है।

2. ब्राह्मण तथा उपनिषद :- वैदिक मंत्रों तथा संहिताओं की गटा टीकाओं को ब्राह्मण कहा जाता है। ब्राह्मण साहित्य में मुख्य रूप से तटेय, पंचविश, शतपथ, तैतरीय आदि महत्वपूर्ण हैं।
उपनिषेदों के द्वारा तत्कालीन समाज, शासन तंत्र, राजा प्रजा संबंधों का पता चलता है। उपनिषेदों की संख्या बहुत है। इसमें मुख्य रूप से वृहदारण्यक, छान्दोग्य, श्वेताखतर, केन, कट, प्रश्न, मुण्डक आदि प्रमुख हैं। इनमें विम्बसार के पूर्व की राजनैतिक दशा का ज्ञान होता है।

3. महाकाव्य :- वैदिक साहित्य के बाद साहित्य के दो स्तंभों रामायण था महाभारत की रचना होती है। प्राचीन भारतीय सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक दशा को सामने लाने का श्रेय इन ग्रथों को है। रामायण के रचियता वाल्मिकी ने भगवान राम के चरित्र वर्णन से संपूर्ण समाज का चित्र ही उकेर कर रख दिया है। महाभारत में शांति पर्व के राजधर्म पर्व के अध्यायों में राजा के कर्तव्य तथा राज्य के साथ संबंधों का वर्णन है। यह प्राचीन चिंतन को मजबूत करते हैं।

4.पुराण :- महाकाव्यों के साथ पुराण अपने समय की ऐतिहासिक सामग्री प्रदान करते हैं। ये महाकाव्यों के समकालीन हैं। इसमें आदिम काल से गुप्तकाल की समस्त सामग्री का उल्लेख है। विष्णु पुराण मौर्य वंश के विषय में, मत्स्य पुराण आंध्र वेश के विषय में व्याख्या करते हैं। वायुपुराण में गुप्तों के विषय में जानकारी उपलब्ध कराते हैं। वायु पुराण में ही सामाजिक

राजनीतिक व्यवस्था की उत्पति का वर्णन है। राजनैतिक दृष्टि से अग्नि पुराण का महत्व सर्वाधिक है, जिसमें शासन का जनकल्याण का आधार बताया गया है। मार्कण्डेय पुराण में सामाजिक वर्ण व्यवस्था के नियमों के पालन तथा जनकल्याण पर बल दिया गया है।

5. स्मृतियाँ :- ऐतिहासिक उपयोगिता के दृष्टिकोण से स्मृतियों का विशेष महत्व है। मनु, विष्णु, याज्ञवल्वय, नारद, बृहस्पति, पराशर, आदि की स्मृतियाँ महत्वपूर्ण हैं। ये धर्मशास्त्र के नाम से विख्यात हैं। इन स्मृतियों में साधारण वर्णाश्रम, धर्म, राजा के कर्तव्य, प्रायश्चित आदि का विस्तृत विवरण है।

6. जैन साहित्य :- जैन साहित्य प्राचीन चिंतन को प्रमाणित करता है। मुख्य रूप से जैन साहित्य प्राकृत भाषा तथा संस्कृत भाषा दोनों में उपलब्ध है। जैन सूत्रों में इतिहास की अनेक उपयोगी सामग्री है। जैन साहित्य में ऐतिहासिक दृष्टि से आचार्य हेमचन्द्र लिखित 'परिशिष्ट पर्वन' बहुत महत्वपूर्ण है। इस ग्रंथ में महावीर के काल से मौर्यकाल का विस्तृत विवरण मिलता है। भद्रवाहु चरित नामक दूसरे ग्रंथ में भद्रबाहु से लेर चन्द्रगुप्त मौर्य तक बहुत जानकारी मिलती है।

7. बौद्ध साहित्य :- बौद्ध धर्म में तीन प्रमुख ग्रंथ है। जिन्हें त्रिपटक के नाम से जाना जाता है। इनमें संत पिटक, धम्म पिटक और विनय पिटक आदि है। इसमें बुद्ध के उपदेशों का संग्रह है। इससे तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है। निकाय एवं जातक ग्रन्थों में तत्कालीन एवं पूर्ववर्ती समाज का उल्लेख है। बौद्ध धर्म ग्रंथ दिव्यावदान, ललितविस्तार, महावस्तु, मंजुशी आदि संस्कृत हैं। इसके अतिरिक्त अश्वेघोष का बुद्ध चरित वसुवंधु का धर्म कोष, नागार्जुन का माहयियिका सूत्र महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

8. लौकिक साहित्य :- लौकिक साहित्य तत्कालीन समाज का विभिन्न काल खंड में चित्रण करते हैं। इसमें कालीदास की रचनाएँ, पाणिनी की रचनाएँ, पतंजलि की रचनाएँ प्रमुख हैं। उक्त विद्वानों ने अपनी रचनाओं, जैसे- पाणिनी की अष्टध्यायी तथा पंतजलि की व्याकरण महाभाष्य के द्वारा तत्कालीन समाज का चित्र खींचा।

9. कौटिल्य का अर्थशास्त्र :- कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' भारत का ही नहीं वरन् विश्व के प्रमुख राजनैतिक ग्रथों में से एक था। इसे राजनीति शास्त्र का आधार माना जाता है। 'अर्थशास्त्र' में राजा को वेद तथा तत्वज्ञान आदि विषय का अध्ययन करने को कहा गया है। सलटोरो के शब्दों में - "प्राचीन भारत की राजनीतिक विचारधाराओं में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य कौटिल्य की विचारधारा है।"

10. नीतिशास्त्र :- नीतिशास्त्रों में कांमदकीय नीतिशास्त्र तथा शुक्रनीतिसार का महत्वपूर्ण योगदान है। कौटिल्य के बाद राज्य एवं शासन पर लिखे ग्रथों में यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। कांमदनीय नीतिसार गुप्तकाल में 500ई. के आसपास लिखा गया। शुक्रनीति भी तत्कालीन

शासन व्यवस्था का वर्णन करता है। इसके समय में गणराज्यों का अंत हो चुका था अतः इसमें राजा का ही वर्णन है। शुक्र के अनुसार शासन का उद्देश्य जनता का सर्वांगीण विकास करना है।

11. अन्य ऐतिहासिक स्रोत :- अन्य ऐतिहासिक स्रोत में विभिन्न कालखंडों में रचित विभिन्न रचनाएँ है। इसमें कल्हण रचित राजतंरगिणी प्रमुख है। इसमें प्राचीन काल से 12 वीं शताब्दी तक का कश्मीरी इतिहास का उल्लेख है। बाणभट्ट द्वारा रचित "हर्ष चरित" में हर्ष के शासन के विभिन्न पहलुओं का वर्णन किया गया है। पद्मगुप्त परिमल का 'नवसाहसाँकचरित' परमार वंश की जानकारी देता है। वाक्पतिराज के काव्यग्रंथ 'गौडवहों' से कन्नौज के राजा यशोवर्मन के शासन की जानकारी मिलती है। विल्हण रचित 'विक्रमांक देव चरित्र' ग्रंथ से कल्याण के चालुक्य वंश के इतिहास का पता चलता है। पाँतजलि के 'महाभाष्य' और कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' शुगवंश के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' नाटक के द्वारा नंदवंश तथा मौर्यवंश का उल्लेख मिलता है। चन्दवरदाई की रचना 'पृथ्वीराज रासो' से तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक स्थिति की जानकारी मिलती है।

1.1.06.2. विदेशी स्रोत

भारतीय चिंतन के अध्ययन का दूसरा महत्वपूर्ण स्रोत विदेशी स्रोत कहलाता है। इसमें मुख्य रूप से विदेशों विद्वानों की रचनाओं, टीकाओं से प्राप्त सूचनाओं को शमिल किया जाता है। इसमें मुख्य रूप से यूनानी एवं रोम के विचारकों को शामिल किया जाता है। यूनानी विचारकों को भी अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा जाता है -

1. सिकंदर के पूर्व के विचारक - स्काइलेक्स, हैरोडोटस, हीसियस
2. सिकंदर के समकालीन - नियक्सि, ओनिसक्रेटिस
3. सिकंदर के बाद - मेगस्थनीय

सिकंदर के पूर्व के यूनानी विचारक - इसमें मुख्य रूप से स्काइलेक्स था जो एक यूनानी सैनिक था। उसने अपनी पुस्तक में भारतीय सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था का वर्णन किया है। हेरोडोटस ने भी भारतीय व्यवस्था का वर्णन किया है। उसका विवरण मुख्यतः सीमावर्ती क्षेत्रों पर आधारित था।

सिकंदर के समकालीन विचारक - सिकंदर के समकालीन विचारकों में अरिस्टोवुलस, निर्याकस, ओनिसक्रेटिस, एरियन आदि प्रमुख थे। ये वे विद्वान थे जो आक्रमण के समय सिकंदर के साथ भारत आए थे। वे भारतीय समाज के साथ नजदीक से जुड़े थे। कतिपय यही कारण था कि इनका विवरण अधिक सटीक और प्रमाणिक माना जाता है।

सिकंदर के बाद के विचारक - इसमें मुख्य रूप से मेगस्थनीय, डायमेकस, टिखनी, डायोडोरस, प्लूटार्क आदि प्रमुख हैं। यूनानी विचारकों में सर्वाधिक प्रमाणिक विवरण मेगस्थनीय का माना जाता है। जिन्होंने अपनी रचना 'इण्डिका' के माध्यम से एक विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। एरियन, जस्टिन, डायोडोरस का विवरण मुख्यतः सिकंदर के अभियानों से संबंधित था।

इसके अतिरिक्त एक विदेशी रचना 'पेरीप्लस ऑफ दी एरीशियन सी' ने तत्कालीन व्यापार, विदेशों संबंधों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त टाल्मी का भूगोल, टिलनी का 'नैचुरल हिस्ट्री' तथा इंडकोरलुस्टस का 'क्रिश्चयन ऑफ दी यूनीवर्स' में भारत भौगोलिक सांस्कृतिक विस्तार का विवरण प्रदान करते हैं।

चीनी यात्रियों का विवरण - चीनी यात्रियों द्वारा विभिन्न कालखंडों में दिया गया विवरण बहुत उपयोगी है। इन चीनी यात्रियों में फाहयान, ह्वेनसांग तथा इटसिंग है। फाह्यान चंद्रगुप्त द्वितीय के शासन के समय भारत आया था। उसने बौद्ध तीर्थी का भ्रमण किया तथा उसका विस्तृत विवरण दिया। ह्वेनसांग हर्ष के समय भारत आया उसने समूचे भारत का भ्रमण किया। 7 वीं शताब्दी में इटसिंग ने भारत में शिक्षा के उच्च अध्ययन केंद्र नालंदा विश्वविद्यालय, तक्षशिला विश्वविद्यालय का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। उनके संपूर्ण विवरण से तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा शैक्षिणक अवस्था का ज्ञान होता है।

मुस्लिम इतिहासकारों का विवरण - भारत में इस्लामी आक्रमण के साथ मुस्लिम इतिहासकारों तथा यात्रियों के द्वारा भारतीय व्यवस्था का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। अल्वरूनी द्वारा रचित 'तहकीक एकहिंद' से तत्कालीन राजपूत कालीन भूगोल, राजनीति, समाज, धर्म, रीति-रिवाज आदि का वर्णन मिलता है। अलमसऊदी की 'मजरूल जहाब' आदि ग्रंथ भी तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था का चित्रण करते हैं।

1.1.06.3. पुरातत्व, अभिलेख, मुद्राएँ, स्मारक, मूर्तियाँ और स्तूप

पुरातन अवशेष ही अनेक उलझी पहेलियों को सुलझाते हैं। भारत के इतिहास में प्राचीन समय से लेकर आज तक अनेक रहस्यों से पर्दा हट रहा है। इसमें महत्वपूर्ण भूमिका पुरातन अवशेषों का रहता है। इन्हीं के अध्ययन से हमें सामवाहन वंश के द के इतिहास का ज्ञान प्राप्त होता है। पुरातत्व में मुख्य रूप से प्राचीन अभिलेख, प्राचीन, मुद्रा, प्राचीन भवनों, स्मारकों आदि को शामिल किया जाता है। मार्शल, स्यूनर, आर.डी. बनर्जी ने अनेक स्थानों पर खुदाई कर नए तथ्यों को उजागर किया। उनके प्रयासों से इतिहास का नया स्वरूप तथा लोगों के सोच की धारा ही बदल गई। डॉ. आर.डी. बनर्जी ने 1921-22 में सिंध प्रांत में मोहनजोदड़ो तथा पंजाब में हड़प्पा की खुदाई करवाई। इन खुदाई से जो नए तथ्य सामने आए उनसे स्पष्ट हुआ कि भारतीय सभ्यता अत्यंत प्राचीन है। इस दिशा में मार्शल का योगदान उल्लेखनीय है। गया, कालीवंगा, लोथल आदि की खुदाई ने नए रहस्यों पर से आवरण हटाया। पुरातत्व विद्वानों ने खुदाई में प्राप्त सामग्रियों, जैसे- शव, मुद्रा, हड्डी, बर्तन, हथियार, औजार, शृंगार सामग्रियों का अध्ययन कर इतिहास को नए तथ्यों से अवगत कराया। विभिन्न गुफाओं के अध्ययन से विभिन्न कालखंडों की जानकारी मिलती है।

विभिन्न अभिलेखों जैसे गुफालेख, शिलालेख, स्तंभ लेख, ताम्र पत्र आदि को शामिल किया जाता है। ये अभिलेख विभिन्न भाषाओं में प्राप्त हुए है। इनके अध्ययन से राजनीति,

सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था का ज्ञान होता है। इन अभिलेखों में अशोक के अभिलेखों को प्राचीनतम माना जाता है। उनके प्रमुख अभिलेखों में हाथी, गुफा अभिलेख, जूनागढ़ अभिलेख, गुप्तकालीन अभिलेख आदि हैं। समुद्रगुप्त के अभिलेखों में मुख्य रूप से प्रयाग का अभिलेख महत्वपूर्ण है। दक्षिण के चोल, पाण्डव, पल्लव राजाओं के अभिलेख महत्वपूर्ण है। ये सभी अभिलेख प्राचीन इतिहास का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हैं।

मुद्राएँ - प्राचीन भारतीय इतिहास के ज्ञान का प्रमुख आधार मुद्राएँ हैं। ईसा से पूर्व 200 से 300 ई. तक के भारत के इतिहास की संपूर्ण जानकारी हमें मुद्राओं के माध्यम से प्राप्त होती है। अनेक प्राचीन शासकों, जैसे पल्लव, शक, वैक्ट्रियन के अध्ययन का आधार मुद्रा हैं। मुद्राओं में गुप्तकालीन मुद्राओं का बहुत महत्व है। वे न केवल अत्यधिक कलात्मक है, वरन् उसके निहितार्थ भी व्यापक हैं। ये राजा की वंशावली, तिथिक्रम तथा उत्तराधिकारी का बोध होता है। मुद्राओं के माध्यम से ही अनेक राज्यों का अस्तित्व सिद्ध होता है। शिव, मालव, अर्जुनायन, कुणादे आदि गणतंत्रों का अस्तित्व इन मुद्राओं के माध्यम से सिद्ध होता है।

स्मारक - इसके अंतर्गत विभिन्न भवन, मूर्तियाँ आदि सम्मिलित हैं। प्राचीन मंदिरों, विहारों, स्तूपों, मूर्तियों, भवनों आदि को शामिल किया जाता है। इनसे सामाजिक, धार्मिक जीवन की जानकारी मिलती है। लक्षशिला के टूटते भवनों में कुषाणवंश का विस्तृत विवरण मिलता है। पाटिलीपुत्र के भवनों से मार्य वंश का विस्तृत ज्ञान होता है। देवगढ़, कानपुर, झाँसी आदि के अनेक भवनों में गुप्त वंश के सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था का बोध होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय चिंतन को प्रमाणित करने में अनेक तत्वों का योगदान रहा है। चिंतन के स्रोत में देशी-विदेशी स्रोत के साथ ही विभिन्न पुरातन अवशेष, शिलालेखों, मुद्राओं ने न केवल तथ्य उजागर किए वरन् संपूर्ण चिंतन को प्रभावित किया।

1.1.07. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन विकास के चरण

भारत में चिंतन के विकास का प्रारंभ भारत में आर्यों के आगमन से माना जाता है। काल खंड की दृष्टि से यह काल सोलह सौ से लेकर चौदह सौ वर्ष ईसा पूर्व तक है। इन आर्यों का समाज जैसे ऋग्वेद में अंकित था पितृप्रधान था। शासन राजतंत्रात्मक था। राजा निर्वाचित एवं नियंत्रित था। समय के साथ वह वंशानुगत एवं नियंत्रणमुक्त हो गया। वैदिक काल में सभा एवं समिति लोकप्रिय निकाय थे। वरिष्ठ एवं शक्तिशाली व्यक्तियों की परिषद ही राजा का चुनाव करती थी। वह राजा को समय-समय पर परामर्श भी देती थी।

धर्म एवं कर्मकांड का प्रभाव समय के साथ बढ़ा। युद्ध में विजय तथा लाभ की लालसा ने 'बलि' प्रथा को बढ़ावा दिया। पुरोहितों के कार्य, महत्व को बढ़ावा मिला। जनसंख्या बढ़ी तथा कार्यों के आधार पर 'विशेषीकरण' पर बल दिया गया। युद्धों की संभावना की अधिकता के कारण एक संगठित सेना की आवश्यकता महसूस की गई। युद्ध के विशेषज्ञों को क्षत्रिय कहा गया। अनेक कर्मकांडों, रिवाजों के लिए ब्राह्मणें का महत्व बढ़ा। अत्यधिक उपजाऊ भूमि में कृषि का

विस्तार हुआ और व्यापारिक गतिविधियों को बढ़ावा मिला। इसके कारण समाज में एक प्रभावशाली व्यापारिक वर्ग का उदय हुआ। इसी समय कृषि उद्योग एवं अन्य कलाओं से जुड़ी नई जातियाँ बनने लगी। इसके अतिरिक्त गैर आर्य जो युद्ध में पराजित हो गए थे, वे दास के रूप में स्थापित हो गए। इस प्रकार नई परिस्थितियों एवं विकास ने समाज को चार भागों में विभाजित कर दिया।

द्वितीय चरण में बड़े राज्य स्थापित हो गए। सामाजिक विकास के साथ राजनैतिक विकास होने लगा। राजा की सैनिक शक्ति एवं भौतिक शक्ति का विकास हुआ। राजा निर्वाचित के स्थान पर वंश आधारित हो गया। इसी समय राजा कानून का संरक्षक एवं संप्रभु बन गया। राजा की सत्ता को धार्मिक मान्यता प्रदान की गई।

विकास के तीसरे चरण में राजा धर्म के प्रमुत्व से बाहर आ गया। राजा अत्यधिक सशक्त हो गया और वह धर्म को ही प्रभावित करने लगा। यह प्रक्रिया बौद्ध धर्म, जैन धर्म के साथ प्रारंभ हुई। ब्राह्मणवाद पर कठोर प्रहार हुआ। इन दोनों धर्मों ने राजा का समर्थन प्राप्त किया। राजा के समर्थन से न केवल इन दोनों धर्मों का तीव्र विस्तार हुआ वरन् ब्राह्मणवाद का प्रभाव कम हुआ। यहीं से नए उदार विचारों का जन्म हुआ। नए विचारों को समाहित करते हुए नए कानून बताएँ गए।

राजा नई परिस्थितियों में और अधिक मजबूत हो गया। वह नए धर्मों का प्रसार कर रहा था, साथ ही कट्टर पुरातन व्यवस्था पीछे छूट रही थी। राजा निरंतर मजबूत होता जा रहा था। इसी समय बड़ी राजशाही स्थापित होने लगी। बड़े सम्राटों का झुकाव भी अलग-अलग धर्मों की ओर होने लगा। जहाँ सम्राट चंद्रगुप्त जैन धर्म का समर्थक था वहीं सम्राट अशोक बौद्ध धर्म का समर्थक था। सामाजिक समरसता, सौहार्द बताएँ रखने तथा प्रतिक्रियावादी शक्तियों को नियंत्रित करने के लिए राजा ने बल का प्रयोग किया। उसने स्वयं की आज्ञाओं, आदेशों को जारी कर धार्मिक क्षेत्र में भी दखल प्रारंभ किया। मौर्य वंश के पतन के बाद भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन आए। नए छोटे-छोटे राज्य स्थापित हुए तथा नए राजा अस्तित्व में आए। शक एवं कुषाण राज्य स्थापित हुए। विदेशी शासकों ने प्रथम प्रहार सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्था पर किया। ब्राह्मणवादी व्यवस्था और कमजोर हुई। इसी समय दैवीय अधिकारों पर बल मिला। अनेक शक एवं कुषाण शासकों ने अपने को ईश्वर पुत्र घोषित कर दिया। यही से राजा का धर्म पर भी प्रभुत्व स्थापित हो गया। राजा धर्म प्रचारक, रक्षक तथा सर्वोच्च व्याख्याकार बन गया।

प्राचीन भारतीय राज्यों का स्वरूप संघात्मक था। इसके बावजूद महत्वपूर्ण मामलों में शक्तियों का केंद्रीकरण था। सम्राट अपने राज्य में सर्वोच्च सत्ता एवं संप्रभु था। उसकी सर्वोच्चता भूमि एवं जल पर स्थापित थी। वह पवित्र कानून का संरक्षक था तथा धर्म प्रवर्तक था। वह देवता समान था तथा न्याय का सर्वोच्च अधिकारी था।

1.1.08. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन की विशेषताएँ

प्राचीन भारत में जो राजनैतिक व्यवस्था थी उसकी अपनी विशेषता थीं, जो उसे पाश्चात्य चिंतन से अलग करती है। ये विशेषताएँ तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक कारणों से प्रभावित थी। प्राचीन भारतीय चिंतन की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैः-

1. धर्म एवं राजनीति का सांमजस्यः- प्राचीन भारत में राजनीति तथा उसके सिद्धांतों का विकास धर्म के एक सिद्धांत के रूप में हुआ था। यही कारण है कि प्राचीन राजनीतिक चिंतन में धर्म को राजनीति के साथ जोड़कर देखा गया। प्राचीन राजनीतिक चिंतन में धर्म से राजनीति को जोड़कर देखा गया। राजा से भी धर्म के पालन की आशा की जाती है। वह हर प्रकार के धार्मिक परंपराओं, रीतियों से बंधा हुआ है। राजा से आशा की जाती है कि वह शासन भी धार्मिक सिद्धांतों के आधार पर करे। राजनीति में धर्म एवं नैतिकता सदैव समावेश रहा है। भारत में प्राचीन धार्मिक ग्रंथ ही राजनीति के मुख्य ग्रंथ माने जाते हैं। इनमें वेद, उपनिषद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि प्रमुख हैं।

2. आध्यात्मिकता पर बलः- प्राचीन भारतीय राजनीति का झुकाव आध्यात्म की ओर अत्यधिक रहा है। भारत को आध्यात्मिक गुण भी कहा जाता है। जीवन के प्रत्येक पहलू का विचार आध्यात्म से प्रेरित है। यहाँ पर जीवन शैली ही आध्यात्मिक रही है। कतिपय यही कारण है कि यहाँ राजनीति का रंग भी आध्यात्मिक है। भारत में राजनीति में आत्मा का विकास एवं मानव के सर्वागींण विकास पर बल दिया गया है। भारतीय चिंतन में माना गया कि जीवन का मूल उद्देश्य आत्मा का विकास करना है। जीवन इस उद्देश्य की प्राप्ति का साधन मात्र है।

3. राज्य आवश्यक संस्था हैः- प्राचीन भारतीय चिंतन की यह प्रमुख विशेषता है कि राज्य को आवश्यक संस्था मानती है। जीवन के तीन लक्ष्यों धर्म, अर्थ और काम की राज्य के बिना प्राप्ति संभव नहीं है। अराजकतावादी राज्य को अनावश्यक और अनुपयोगी मानते हैं, व्यक्तिवादी राज्य को आवश्यक बुराई मानते हैं। इनके विपरीत भारतीय चिंतन ने राज्य को अति आवश्यक माना जाता है। यह न केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन है वरन् आत्मा का विकास करने का भी माध्यम है।

4. राज्य के विस्तृत कार्य क्षेत्र पर बलः- भारतीय राजनीतिक चिंतन आदर्शवादी तो है, परंतु इसमें कही भी व्यक्तिवाद की झलक नहीं मिलती है। भारतीय चिंतन में राजा का कार्यक्षेत्र अत्यंत व्यापक है। राज्य न केवल व्यक्तियों की रक्षा करेगा वरन् उनकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा। राज्य इसके बाद नैतिकता के मार्ग पर प्रेरित कर अंतिम लक्ष्य (आत्मा का विकास) को प्राप्ति के लिए वातावरण उपलब्ध कराएगा।

5. राजा की सर्वोच्च सत्ता पर बलः- भारतीय राजनीतिक चिंतन में राज्य का स्थान सर्वोच्च है। राजा सर्वोच्च शक्तियों का प्रयोग करता है। वह किसी के प्रति जबावदेह नहीं है। अनेक विद्वानों ने राजा को दैवीय माना है। उसमें दैवीय गुणों का समावेश किया है। कौटिल्य ने राजा और

राज्य के बीच कोई अंतर नहीं किया है। राजा को सर्वोच्च स्थान दिया गया है, परंतु उसे निरंकुश नहीं किया गया है।

6. दंड पर बलः- भारतीय राजनीतिक चिंतन यह मानता है कि मानव में आसुरी शक्तियों की प्रधानता होती है। अतः उनको नियंत्रित करने के लिए दंड की आवश्यकता होती है। भारतीय चिंतन में कठोर दंड का प्रावधान है, जिससे समाज संदेश जाय और अन्य लोग कानून तोड़ने से बचे। प्राचीन विद्वानों ने इसे दंड नीति के नाम से पुकारा है। मनु, कौटिल्य सभी ने दंड पर बल दिया।

7. व्यवहारवादी दृष्टिकोणः- भारतीय चिंतन आदर्शवादी न होकर व्यावहारिक है। भारतीय चिंतन में यूनानी विचारकों प्लेटो, अरस्तू की तरह कल्पना का अभाव है। ए.के. सेन के शब्दों में- "हिंदू राजनीतिक चिंतन उत्कृष्ठ वास्तविकताओं से भरा हुआ है। कुछ राजनीतिक अपवादों को छोड़कर भारतीय राजनीतिक विचारों का संबंध राज्य के सिद्धांत एवं दर्शन से उतना नहीं जितना राज्य की समस्याओं से है।

8. विचारों की अपेक्षा संस्थाओं पर बलः- भारतीय प्राचीन विद्वानों ने अपनी रचनाओं का केंद्र संस्थाओं को बनाया है। इन संस्थाओं का महत्व, संगठन तथा कार्य आदि का व्यापक वर्णन किया गया है। समस्त अध्ययन का केंद्र बिंदु मूल रूप से राजनीतिक संगठनों तथा उनके कार्यों को बनाया गया है।

9. सामाजिक व्यवस्था का प्रभावः- प्रत्येक देश की राजनीतिक व्यवस्था वहाँ की सामाजिक व्यवस्था की देन होती है। प्रत्येक व्यवस्था में राजनीतिक में हो रहा परिवर्तन सामाजिक व्यवस्था की देन होता है। भारत के चिंतन में ऐसा देखा गया है कि यहाँ पर भी सामाजिक व्यवस्था का व्यापक प्रभाव राजनीतिक व्यवस्था पर है।

10. राजा के व्यापक कार्यों का वर्णनः- प्राचीन भारतीय चिंतन में प्रायः विद्वानों ने राजा के कार्यों का व्यापक वर्णन किया है। इन रचनाओं का अधिकांश हिस्सा राजपद की योग्यता, महत्व एवं कार्यों के वर्णन में है। राजा का परम कर्तव्य क्या है? उसे किस प्रकार इसका पालन करना चाहिए? आदि प्रश्नों के उत्तर स्पष्ट रूप से अंकित है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में तत्कालीन राजनैतिक समस्याओं पर न केवल विचार हुआ वरन उसका समाधान भी प्रस्तुत किया गया। यह उस समय हो रहा था जब पश्चिम में व्यवस्थित अध्ययन भी प्रारंभ नहीं हुआ था। भारतीय चिंतन यथार्थवादी, संस्थावादी तथा अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति पर बल देता है।

1.1.09. मूल्यांकन

भारतीय राजनीतिक चिंतन अत्यंत प्राचीन है। कुछ विद्वानों इसे पाँच हजार वर्ष से भी प्राचीन मानते हैं। यह दुनिया की प्राचीनतम सभ्यताओं में से एक है। यद्यपि कुछ पश्चिमी विद्वानों ने झूठ का एक ऐसा आवरण डाला जिसमें यह सिद्ध किया गया कि भारत में प्राचीन

चिंतन था ही नहीं। जो कुछ भी था वह पाश्चात्य चिंतन के सामने ठहरता ही नहीं। नए शोधों, पुरातत्व विभाग की खोज ने यह सिद्ध कर दिया कि भारत में अति प्राचीन काल से ही राजनैतिक चिंतन न केवल अस्तित्व में है वरन् उसका स्तर भी काफी अच्छा है।

राजनैतिक चिंतन के द्वारा किसी भी समाज की राजनैतिक व्यवस्था का न केवल ज्ञान होता है, वरन् उसमें सुधार की संभावना भी बनी रहती है। राजनैतिक चिंतन से विश्व की घटनाओं को समझने की समझ उत्पन्न होती है। साथ ही अन्य देशों में उससे प्रेरणा लेकर मानव कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। उदाहरण के लिए रूसो के विचारों ने फ्रांस की क्रांति में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इसके साथ ही चिंतन से नई शब्दालियों, परिभाषाओं का भी ज्ञान होता है।

जहाँ तक राजनैतिक चिंतन के स्रोत का प्रश्न है तो यह दो स्तरों पर पाया जाता है। इसका पहला स्रोत देशी है तथा दूसरा स्रोत विदेशी है। देशी स्रोत में भारतीय विद्वानों की रचनाएँ, ग्रंथ, महाकाव्य आदि है। इसमें मुख्य रूप से वेद, पुराण, उपनिषद, रामायण, महाभारत तथा विभिन्न काल खंडों में रचित विभिन्न रचनाएँ आती हैं। यह सभी भारतीय चिंतन की दिशा को स्पष्ट करती है। इसके अतिरिक्त विदेशी स्रोत भी है। जिनमें विभिन्न विदेशी विद्वानों के द्वारा समय-समय पर लिखी गई रचनाएँ आती हैं। इसमें मुख्य रूप से यूनानी विचारकों, चीनी विचारकों की रचनाओं का योगदान है। इसके अतिरिक्त शिलालेख, मुद्राओं, स्तूप आदि पर लिखी गई रचनाओं का अपना योगदान है। भारतीय चिंतन मूल रूप से यथार्थ पर आधारित है। इसमें आध्यात्मिकता के तत्व दिखाई पड़ते है। भारतीय चिंतन में राजनीति से धर्म को अलग नहीं देखा जाता है। इन दोनों को साथ ही स्वीकार किया जाता है। भारतीय चिंतन में राजा तथा राज्य का स्थान सर्वोच्च है। राज्य का कार्यक्षेत्र व्यापक स्वीकार किया गया है। इसमें सदैव संस्थाओं को महत्व प्रदान किया गया है। संपूर्ण भारतीय राजनीतिक चिंतन न केवल प्राचीनतम है, वरन् यह व्यावहारिक भी है। यह सामाजिक व्यवस्था का आइना सदृश्य दिखता है जो सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप अपना स्वरूप भी बदलता हुआ दिखाई पड़ता है। इस प्रकार से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय चिंतन ने केवल प्राचीन वरन् अत्यंत उच्च कोटि का है। यह तत्कालीन समाज से न केवल प्रभावित है वरन् आगे आने वाले समाज के लिए पथ-प्रदर्शक का कार्य करता है।

1.1.10. स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न के उत्तर

01. प्राचीन भारतीय चिंतन उच्च कोटि का है। सत्य/असत्य
02. भारतीय राजनीतिक चिंतन पाश्यात्य चिंतन से प्राचीन है। सत्य/असत्य
03. प्लेटो और अरस्तू कहाँ के विचारक थे?
04. कौटिल्य की रचना का क्या नाम था?
05. फ्रांस की क्रांति पर सर्वाधिक प्रभाव किस विचारक का था?

06. राजनीतिक चिंतन का .....के साथ घनिष्ठ संबंध होता है।
07. प्राचीन भारतीय चिंतन के प्रमुख स्रोत क्या है?
08. प्राचीन भारतीय चिंतन के विदेशी स्रोत कौन-2 से है?
09. अश्वघोष की रचना का क्या नाम है?
10. पाणिनी की रचना का क्या नाम है?

1.1.11. सारांश

इस प्रकार से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय चिंतन का इतिहास अत्यधिक प्राचीन है। यह वैदिक काल से प्रारंभ होकर भारत में इस्लामिक शासन तक माना जाता है। यद्यपि भारतीय चिंतन के विषय में पाश्चात्य समीक्षकों की दृष्टि सकारात्मक नहीं रही है। इसके बावजूद भारतीय चिंतन न केवल यर्थाथवादी हैं, वरन यह बहुत हद तक आधुनिक भी है। भारतीय चिंतन के केंद्र में मानव है। जबकि पाश्चात्य चिंतन के केंद्र में मानव नहीं है। इसके बावजूद मैक्समूलर, डनिंग जैसे पाश्चात्य समीक्षकों ने इसे अव्यावहारिक व अनुपुयुक्त माना। उक्त आलोचनाएँ उपयुक्त नहीं दिखाई पड़ती है। भारतीय चिंतन अनवरत मानव उपयोगी रहा है।

भारतीय चिंतन के अनेक स्रोत रहे हैं। इसमें मुख्य रूप से प्राचीन रचनाएँ जैसे वेद, पुराण, धर्मसूत्र, उपनिषद, महाकाव्य आदि। इसके अतिरिक्त समय-समय पर विदेशी विद्वानों के विवरण ने भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इसके अतिरिक्त अलग-अलग कालखंडों में आई विभिन्न रचनाओं, जैसे- अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, एवं शुक्रनीति ने भी इसमें योगदान दिया है। प्राचीन भारतीय चिंतन शिलालेखों, स्तंभलेखों, गुफालेखों, एवं ताम्रलेखों में भी परिलक्षित होता है। भारतीय चिंतन धर्म एवं राजनीति को एक साथ जोड़कर देखता है। इसमें राजनीति की पवित्रता पर बल है। इसमें आध्यात्मिकता पर झुकाव है। इसके साथ ही भारतीय चिंतन में राज्य को अपरिहार्य माना गया है। भारतीय चिंतन में शासन एवं प्रशासन के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण रखा गया है। इसमें कठोर दंड की व्यवस्था दिखाई पड़ती है। भारतीय चिंतन में राजा के कार्यक्षेत्र को व्यापक माना गया है। उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय चिंतन एकपक्षीय पुरातनपंथी एवं अधूरा नहीं है, वरन यह पूर्णत व्यावहारिक एवं आधुनिक है।

1.1.12. शब्दावली

पाश्चात्य	-	पश्चिमी भूभाग अथवा पश्चिम के देश जैसे यूनान, इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि
औपनिवेशिक काल	-	भारत में बिटिश शासन के समय को औपनिवेशिक
काल कहा जाता है। पूर्वाग्रह	-	पहले से निर्णय लेकर (तय करके) कार्य करना ही पूर्वाग्रह कहलाता है।
आदर्शवाद	-	अच्छी स्थिति, आदर्श स्थिति की कल्पना करना

तथा जो लागू करने में मुश्किल हो आदर्शवाद के अन्तर्गत आता है।

1.1.13. अभ्यास के प्रश्नों के उत्तर

01.सत्य
02.सत्य
03.यूनान
04.अर्थशास्त्र
05.रूसो
06.यर्थातवाद
07.वेद, पुराण, शिलालेख, स्तूप, ग्रंथ
08.स्काइलेक्स, मेगस्थनीज, हवेनसांग, फाहयान
09.बुद्धचरित
10.अष्टध्यायी

1.1.14. निबंधात्मक प्रश्न

अभ्यास हेतु निबंधात्मक प्रश्न -

01.राजनीतिक चिंतन से क्या आशय है? भारतीय प्राचीन चिंतन के प्रमुख स्रोत बताइए।
02.प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
03.प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन क्या है? यह किस प्रकार पाश्चात्य चिंतन से भिन्न है, स्पष्ट कीजिए।
04.प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन के महत्व पर एक निबंध लिखिए।
05.राजनीतिक चिंतन से आप क्या समझते है? इसके प्रमुख चरणों पर प्रकाश डालिए।
06.प्राचीन राजनीतिक चिंतन के विकास पर निबंध लिखिए।

1.1.15. संदर्भ ग्रंथ सूची

01.राव एम.वी. कृष्णा, स्टडीज इन कौटिल्या
02.समस्त्रे आर., कौटिल्यस का अर्थशास्त्र
03.परमात्मा शरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं समस्याएँ
04.वर्मा, वी.पी., प्राचीन भारतीय चिंतन
05.वेनी प्रसाद, दि स्टेट इन एनसिएंट इण्डिया
06.श्यामलाल पाण्डेय, कौटिल्य की राज व्यवस्था

खण्ड – 4. प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय राजनीतिक चिंतन

इकाई-2. शुकनीतिसार एवं अन्य संस्कृत साहित्य में राजनीतिक विचार

इकाई की रूपरेखा

4.2.1. उद्देष्य
4.2.2. प्रस्तावना
4.2.3. अन्य संस्कृत साहित्य का स्वरूप
4.2.4. अन्य संस्कृत वांड.मय में राजा सम्बन्धी विचार
  4.2.4.1. राजा एवं राजपद
  4.2.4.2. राजा और देवत्व
  4.2.4.3. राजा के कर्त्तव्य
  4.2.4.4. राजा के अधिकार
4.2.5. मंत्रिपरिषद सम्बन्धी विचार
4.2.6. मंत्रिपरिषद का संगठन
4.2.7. राज्यानुषासन के अन्य विविध पक्ष
  4.2.7.1. सप्तांग सि़द्धांत
  4.2.7.2. षाड्.गुण्य
  4.2.7.3. राजनय के चतुरूपाय
  4.2.7.4. त्रिषक्ति
  4.2.7.5. त्रिवर्ग सिद्धांत
  4.2.7.6. त्रिविध नीतिषास्त्र
  4.2.7.7. त्रिविध सिद्धियॉ
  4.2.7.8. चतुर्विधा
4.2.8. सारांष
4.2.9. अभ्यास प्रष्न
4.2.10. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.2.1. उद्देष्य –

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप जान पायेंगे –

(प) राजधर्म के परिप्रेक्ष्य मे संस्कृत वांड्.मय की व्यापकता

(पप) संस्कृत वांड्.मय में राजधर्म विषयक मुख्य ग्रन्थों के अतिरिक्त परवर्ती संस्कृत साहित्यिक कृतियों मे निरूपति राजनीति विषयक विवेचन

(पपप) संस्कृत साहित्य के मूल विचारों के प्रकाष में गौरवषाली भारतीय संस्कृति एवं ज्ञान के प्रकटीकरण

(पअ) प्राचीन भारतीय चिंतन की विभिन्न धाराओं, आयामों, संस्थाओं, एवं प्रषासन की प्रविधियॉ

4.2.2. प्रस्तावना –

भारतीय राज्यानुशासन का अध्ययन एवं विमर्श प्राच्य और पाश्चात्य विचारकों का अभीष्ट एवं जिज्ञासा का प्रमुख विषय रहा है। प्राचीन भारतीय वांड्.मय प्रायः राजवंशों एवं राज घरानों से ही संबंधित है इसलिए उनमें राजनीतिक चेतना बहुत अधिक दृष्टिगोचर होती है। राज्यानुशासन के मूल स्त्रोात के रूप में संस्कृत, प्राकृत एवं पालि भाषाओं में लिखित साहित्य की महत्ता सर्व स्वीकृत है। प्राकृत भाषा में जहां प्रायः जैन मनीषियों ने प्रचुर साहित्य की रचना की वही पालि बौद्धों के विचार सम्प्रेषण की भाषा बनी रही। किंतु संस्कृत भाषा को यह विशेष गौरव प्राप्त है कि इसे भारत के सभी सम्प्रदायों एवं परम्पराओं ने समान रूप से सम्मान दिया है तथा विविध विधाओं के साहित्य का प्रणयन किया हैं। वस्तुतः भारत के मनीषियों का समस्त चिंतन, मनन, गवेषणा, लौकिक एवं अलौकिक सभी अनुभूतियॉ इसी संस्कृत भाषा ने समाहित है। इस भाषा का इतिहास लगभग पांच सहस्त्रा वर्षों का है और आज तक यह भाषा भारत के न केवल राजनीतिक वरन् सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक तथा धार्मिक जीवन को निरंतर अनुप्रमाणित करती आई है।

4.2.3. अन्य संस्कृत साहित्य का स्वरूप :–

प्राचीन संस्कृत भाषा को विद्वानों ने दो वर्गों में विभाजित किया है (1) वैदिक संस्कृत (2) लौकिक संस्कृत। इसी आधार पर संस्कृत साहित्य का भी विभाजन किया गया है। वैदिक साहित्य में वेद, संहिता, ब्राम्हण, आरण्यक, उपनिषद तथा वेदांग आदि आते हैं जबकि, लौकिक साहित्य में रामायण, महाभारत के अतिरिक्त अन्य परवर्ती विपुल साहित्य रचा गया है जिनमें काव्य, नाटक, गद्य, कथा, गीत आदि को समाहित किया जाता है जिनके प्रमुख ग्रन्थकारों में कालिदास, भारवि, भाट्टि, अश्वघोष, माघ, हर्ष, बाणभट्ट, कल्हण, कुमारदास, दण्डी, भतृहरि, विष्णु शर्मा, भास जयदेव का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। वस्तुतः कवि अथवा लेखक का मानस–पटल दर्पण की तरह प्रभावग्राही होता है, अतएव उसकी कृतियों में तत्कालीन समाज की परिस्थितियों की झांकी दिखाई पड़ती है। संस्कृत के महाकाव्य, रूपक, आख्यान, गीत, गद्य आदि इसके अपवाद नहीं है। यद्यपि इनमें राजनीति शास्त्र का क्रमबद्ध वर्णन नहीं हुआ है और मूल रूप से ये राजनीति शास्त्र के ग्रन्थ नहीं हैं तथापि, इनके नायक प्रायः राजा हैं अतः इनके अनुशीलन से तात्कालिक राज्य व्यवस्था की जानकारी प्राप्त होती है। मुख्यतया कालिदास, अश्वघोष, भट्टि, कुमारदास, माघ, कल्हण एवं श्रीहर्ष के महाकाव्यों तथा भास, शुद्रक, विशाखादत्त एवं भवभूति आदि के साहित्य में राजदर्शन प्रचुर रूप से उपलब्ध है।

संस्कृत वांड्.मय में राजनीतिक विचारों की जो अभिव्यक्ति हुई है उसमें राजधर्म के विभिन्न पक्षों यथा–राजतंत्र और गणतंत्र का समन्वय, राजा–प्रजा सम्बन्ध, राज्यादर्श एवं प्रजादर्श की विशद व्याख्या दृष्टिगोचर होती है साथ ही कूटनीतिक पक्ष यथा–युद्ध की विभिन्न प्रणालियॉ, सुरक्षा के साधन एवं विविध अस्त्र शस्त्रों आदि की जानकारी होती है। बाणभट्ट का 'हर्ष चरित' सन्ध्याकर नन्दी का 'रामचरित', कालिदास, भास और शुद्रक आदि विद्वानों के दृश्यकाव्य एवं महाकाव्य, विशाखादत्त का 'मुद्राराक्षस', कल्हण की राजतरंगिणी आदि ग्रन्थ मुख्यतः राजाओं की आत्म कथाएं एवं तत्कालीन समाज की ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करते हैं जिनमें प्राचीन भारतीय

राजनैतिक जीवन की छवि प्रतिबिम्बित होती है तथा साथ ही राज्यानुशासन के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश पड़ता है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त वैशम्पायन की 'नीति प्रकाशिका' सोमेश्वर की अभिलाषितार्थ चिन्तामणि' या 'मानसोल्लास', भोज का 'मुक्ति कल्प तरू' लक्ष्मीधर का 'राजनीतिक कल्पतरू' चण्डेश्वर का 'राजनीति रत्नाकर', मित्र मिश्र का 'राजनीति प्रकाश', नीलकण्ठ का 'नीतिमयूख' अनन्तदेव का 'राजधर्म कौस्तुभ' आदि ग्रन्थों को भी राज्यानुशासन की दृष्टि से अत्यधिक महत्व प्राप्त है।

4.2.4. अन्य संस्कृत वांड्.मय में राजा सम्बन्धी विचार :–

4.2.4.1. राजा एवं राजपद :–

संस्कृत साहित्य में प्रतिपादित राजधर्म के स्वरूप का व्यापक अनुशीलन करने पर उसका जो ऐतिहासिक स्वरूप दिखाई पड़ता है उसमें राजतंत्र का बहुशः उल्लेख हुआ है। सत्य तो यह है कि वैदिक सभ्यता के आरम्भिक काल में आर्यो ने अपने आपको प्रशासनिक तंत्र के रूप में संगठित करते हुये सुदृढ़ शासन व्यवस्था का विकास कर लिया था, जिसमें राजतंत्र और गणतंत्र दोनों ही प्रकार की शासन व्यवस्थाएं प्रचलित थीं किंतु प्रधानता राजतंत्र की थी कभी–कभी ज्येष्ठता की अपेक्षा योग्यता एवं निर्वाचन को भी अधिक महत्व दिया गया है। अराजकता को जीवन का अभिशाप बताते हुये भीष्म ने कहा है कि जहां राजा नहीं होता वहां 'मत्स्य न्याय' के अनुसार प्रजा जन एक दूसरे को कवलित करने के लिए उत्सुक हो जाते हैं।

''अराजका'' प्रजा पूर्व विनेशु रिक्ति न श्रुतम् [2]।
परस्पर भक्ष्यन्तों मत्स्या इव जले कृशान।''

संस्कृत साहित्य की इस सुदीर्घ परम्परा में रामायण और महाभारत को उपजीव्य मानकर लिखे गये साहित्य में भी राजनीति के क्षेत्र में राजा का महत्वपूर्ण स्थान माना गया है। राज्य व्यवस्था राजा के बिना कठिन ही नहीं अपितु नितान्त असम्भव मानी गई है वह सारी शासन व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु होता है, जिसके बिना राज्य का सुचारू रूप से संचालन कठिन हो जाता है। राजा रहित राज्य में अनेक विपदाओं का साम्राज्य रहता है, प्रजाजनों की सुख शांति एवं समृद्धि संशयास्पद बन जाती है और राष्ट्र का पतन शुरू हो जाता है।

4.2.4.2. राजा और देवत्व :–

प्रजा का कल्याण करने और अति महत्वपूर्ण पद पर आसीन होने के कारण राजपद को दैविक माना गया है। भारतीय परम्परा में राजा प्रजा वर्ग की समष्टि, आत्मा का प्रतिनिधित्व रूप एवं विश्व नियन्ता परमेश्वर का प्रत्यक्ष विग्रह स्वरूप माना जाता है। वह धर्म, जीवन एवं लौकिक अभ्युदय को देने वाला माना जाता है। राजा को देव तुल्य मानने के पीछे तीन प्रमुख आधार माने गये हैं – 1. दैवी उत्पत्ति 2. राजा का देवांशों से निर्मित होना तथा 3. राजा व देवांशों के विशिष्ट कार्यों में समानता और राजपद की सर्वोच्च स्थिति और शक्ति। विशाखादत्त विरचित 'मुद्राराक्षस' नाटक में कहा गया है कि राजा मनुष्यों में देवता है। उसका दर्शन और सामीप्य दुर्भाग्यशाली व्यक्तियों को प्राप्त नहीं हो सकता [3]। राजपद को दैवीय मानने से प्रजा द्वारा आज्ञा पालन करवाने में अधिक सुगमता थी। किंतु भारतीय राज्यानुशासन राजा की

निरंकुशता का कदापि समर्थन नहीं करता, वरन् आवश्यकता पड़ने पर वह प्रजा को राजा का विरोध करने का अधिकार देता है।

4.2.4.3. राजा के कर्त्तव्य :–

संस्कृत महाकाव्यों और दृश्यकाव्यों में राज्य के कुशल संचालन और राज्य की उन्नति के लिए **'अष्ट विध'** कर्म का उल्लेख किया गया है ये किसी भी कुशल राजा के लिए आवश्यक एवं चिंतनीय कर्म माने गये हैं जो इस प्रकार हैं– (1) आदान (कर लेना) (2) विसर्ग (व्यय करना) (3) प्रेषक (दूत आदि भेजना) (4) निषेध (शास्त्र विरूद्ध और नीति विरूद्ध कार्यो का त्याग) (5) अर्थवचन (बहुमत और नीति के अनुसार कार्य करना) (6) व्यवहार (प्रजा से न्यायोचित व्यवहार करना) (7) दण्डग्रहण (अपराधियों और हारे हुये शत्रुओं से अर्थदण्ड की उगाही करना) (8) शुद्धि (पापियों को दण्ड देना और प्रायश्चित कराना) [4]।

राजा के पद का आर्विभाव ही प्रजाहित और सुरक्षा के लिए हुआ था इस पर सभी प्राचीन विचारक एकमत है। 'मुद्राराक्षस' में कहा गया है कि प्रजाहित ही राजा का अपना हित है [5]। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में कालिदास ने उद्यमहीन राजा को निरर्थक कहा है, सभी व्यक्ति अपनी मनचाही वस्तु पाकर सुखी हो जाते हैं, किंतु राजाओं की चरितार्थता दुःखों से घिरी रहती है। राजपद की प्राप्ति न केवल औत्सुक्य का अवसान कर देती है, बल्कि राज्य के परिपालन का कर्त्तव्य राजा को पदे–पदे क्लेश ही पहुंचाता है। राजा का चरित्र वृक्ष के समान होता है जो अपने ऊपर सारी धूप झेल लेता है किन्तु आश्रितों को छाया देता है। राजा को प्रजा के बन्धुकृत्य को पूरा करना होता है [6]। 'रघुवंश' में **'राजा प्रकृति रंजनात्'** लिखकर कालीदास ने इसकी पुष्टि की है। रघु का वर्णन करते हुये कालिदास ने कहा है कि जिस प्रकार अह्लादकत्व के कारण चन्द्रमा और प्रताप के कारण सूर्य की सार्थकता है उसी प्रकार, प्रजाजनों को सन्तुष्ट एवं प्रसन्न करने से रघु यर्थात नाम वाले हुये –

यथा प्रहलाद्नाच्चन्द्रः प्रतापप्तपमोयथा [7]।
तथैव सो भूदन्वर्थों राजा प्रकृति रंजनात्।।

राजा के प्रजानुरंजन सम्बन्धों को महाकवि कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम' में बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है। राजा दुश्यन्त यह आज्ञा प्रसारित करने को कहता है कि प्रजा में जो व्यक्ति अपने प्रियजन से बिछुड़ गया है वह मुझे ही अपना प्रियजन समझे, क्योंकि प्रजाहित एवं उनके दुःखों का निवारण करने के लिये राजा को सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए –

'येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निताघेन बन्धुना [8]।
स स पापहते तासा दुष्यन्त इति धुष्यताम।।

––5––

'रघुवंश' में कालिदास ने उल्लेखित किया है कि प्रजा की रक्षा और पालन करने के कारण राजा (रघु) उनके लिए पिता समान थे। वे प्रजा हित हेतु राजमार्गो का निर्माण कराते थे, चिकित्सालय बनवाते थे, कुएं, जलाशय, धर्मशालाएं, मंदिर तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों का निर्माण कराते थे, शिक्षा के लिए तथा मनोरंजन के साधनों की उन्नति के लिए प्रयत्न करते थे। प्रजा के दुःखों को जानने के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति करके स्वयं भी छद्मवेश में धूमते थे [9]। 'उत्तर रामचरित' में भी भवभूति ने राजा राम के दिये गये प्रजानुरंजन संबंधी संदेशों का उल्लेख किया है [10]।

कवि भास द्वार रचित 'अविमारक' नाटक में राजा के कर्तव्य का निरूपण करते हुये राजा कुंती भोज कहता है – 'राजा को पहले धर्मनीति का विचार करना होता है, तत्पश्चात अपनी बुद्धि से मंत्रियों की गतिविधि देखनी पड़ती है, राग द्वेष छिपाना पड़ता है, सरलता और कठोरता का यथावत् पालन करना होता है, गुप्तचर रखने होते हैं, प्रजा और अपनी रक्षा करनी होती है, युद्ध के लिए सदा तैयार रहना होता है, [11]।

महाकवि अश्वघोष ने भी राजा के गुणों तथा कर्त्तव्यों का स्पष्ट एवं रूचिर रूप में उल्लेख किया है। विषयों में अनासक्ति, समृद्धि पाकर अनौद्वत्व, शरणागत रक्षा, धैर्य से अविचल होना, सत्पात्राों को दान देना, दुखियों का दुःख दूर करना, शत्रु को परास्त करके यश पताका समस्त विश्व में फैलाना, परपीड़ा आदि पापों से मुक्त रहकर सदैव पुण्यार्जन करना राजा को शोभा देता है। वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करना राजा का प्रमुख ध्येय है। समाज विरोधी प्रवृत्तियों में योग देकर मर्यादा का उल्लंघन करने वाले अपराधी को दण्ड देना भी राजा का कर्त्तव्य है। रघुवंश में उल्लेखित है – **''नृपस्य वर्णाश्रम पालनं यत् स धर्मो मनुना प्रणीतः** [12] प्राचीन गद्यकारों नें दण्डी यशस्वी गद्यकार हैं, उन्होंने 'दशकुमारचरितम्' में भोजवंशोत्पन्न पुण्यवर्मा के वर्णन के प्रसंग में नृपति के उत्तरदायित्वों का संकेत दिया है, उनके अनुसार राजा को प्रजाविनेता, रंजितभृत्य, उदग्र बुद्धि और मूर्ति से उत्थानशील, शास्त्र प्रमाणक, बुद्धजनों का मान करने वाला, कलाओं के परमपटु, धर्मार्थ संहिता का ज्ञानी, दैवी और मानवी आपत्तियों का प्रतिकर्ता होना चाहिए [13]।

वस्तुतः राजाओं का राजसी जीवन पुष्पशैया न होकर उत्तरदायित्वों व कर्त्तव्यों का ताज था, पूर्ण अधिकार सम्पन्न एवं शक्तिशाली होने पर भी राजा के लिए राजपद कितना दुष्कर था, इसका पता उसके कर्त्तव्यों की जानकारी के बाद ही होता है।

4.2.4.4. राजा के अधिकार :–

प्राचीन भारतीय राजनीति में राजा के आज्ञा का सभी के लिए पालनीय माना गया है। 'मुद्राराक्षस' में कहा गया है राजा की आज्ञा के उल्लंघन का अर्थ है मृत्युदण्ड (कोऽन्यो जिवितुकामो देवस्थ शासनमति वर्तते) [14]। 'मृच्छकटिकम्' में राजा द्वारा अधिकारियों की नियुक्ति के संबंध में स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं। समस्त राजकर्मचारियों तथा सेवकों की नियुक्ति के संबंध में आदेश निर्गत करना राजा का अधिकार क्षेत्र था, राजाज्ञा लिखित रूप से जारी की जाती थी [15]। 'मुद्राराक्षस'एवं प्रतिज्ञायौगन्धरायण में भी राजा के इन अधिकारों की पुष्टि होती है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में कहा गया है कि राजा के आदेशों के प्रतिकूल जाने का साहस प्रजा तो क्या प्रकृति भी नहीं करती है [16]।

प्राचीनकाल ने अपराधियों को विविध प्रकार से दण्डित किए जाने का उल्लेख मिलता है यथा – प्रकाशदण्ड, छद्मदण्ड, सरोधदण्ड और अपसारण [17]। 'मृच्छकटिकम्'के न्यायधीश चारूदत्त के दण्ड निर्धारण का अधिकार राजा को ही सौंपते हैं [18]। सोमदेव उद्धृत करते हैं कि अपनी अपने अधीन प्रजा के गुण दोषों की गुरूता एवं लघुता के ज्ञान हेतु राजा तुलादण्ड के समान होता है। 'मुद्राराक्षस' में विवरण मिलता है कि राक्षस को शरण देने के अभियोग में

चंदनदास को मृत्युदण्ड दिया गया। प्राचीन धार्मिक मान्यताओं के अनुसार राजा द्वारा दिया गया दण्ड प्रायश्चित की भांति पाप की शुद्धि करने वाला माना गया है। असीमित अधिकारों का स्वामी होने के कारण राजा को न्यायधीशों की नियुक्ति तथा सेवामुक्ति का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। 'मृच्छकटिकम्' में शकार द्वारा न्यायधीश को दी गई धमकी से भी इस बात की पुष्टि होती है [19]। राजा को किसी भी न्यायालय के निर्णय को रद्द करने, उसका पुनरावलोकन करने अथवा उसमें परिवर्तन करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। राजा पालक ने न्यायालय द्वारा चारूदत्त को देश निष्कासन के दण्ड के स्थान पर मृत्युदण्ड की सजा सुनाया था [20]। इस प्रसंग में ध्यातव्य है कि यहां पर आधुनिक राजनीति शास्त्र के 'न्यायिक पुरावलोकन के सिद्धांत' के सूत्र दृष्टिगोचर होते हैं। प्राचीन संस्कृत साहित्यकारों ने राजा को यह पूर्ण अधिकार दिया कि वह अपनी प्रजा से राज्य के कल्याण हेतु कर ग्रहण करें (भौरें के समान मधु संचय का उल्लेख है) 'रघुवंश'से राजा को अपनी प्रजा से किसी भी प्रकार के कर को लेने की जानकारी मिलती है। राजा दिलीप अपनी प्रजा से षष्ठांश कर के रूप में प्राप्त करते थे [21]। अभिज्ञानशाकुन्तलम में राजा दुष्यन्त चारों वर्णों से प्राप्त होने वाले षष्ठांश कर को तपस्वियों के तप रूपी अंश के समक्ष तुच्छ समझता है। 'मृच्छकटिकम' में भी राजा को कर ग्रहण करते हुये भ्रमर के समान बताया गया है [22]।

अपनी प्रजा की सुरक्षा एवं क्षात्र धर्म के पालन के लिए राजा को अन्य राज्यों से युद्ध का अधिकार प्राप्त था। साथ ही, शत्रु राज्यों से युद्ध करना तथा आवश्यकता पड़ने पर संधि का निर्णय लेना भी राजा का अधिकार था। यद्यपि राजा इस प्रकार के महत्वपूर्ण विषयों पर मंत्रिपरिषद से परामर्श अवश्य लेता था, युद्ध भी कुछ नियमों के अधीन ही लड़े जाते थे जो धर्म शास्त्रों में वर्णित थे। युद्ध में पराजित राजा की सम्पत्ति पर विजयी राजा का पूर्ण अधिकार होना वर्णित है [23]। युद्ध को राजनीतिक प्रक्रिया का विस्तार माना जाता था। सोमेश्वर ने 'मानसोल्लास' में राजा को छः प्रकार के युद्धों का निर्देश दिया है – देशनाशक, जनांगछेदन, स्थानदाह, गोग्रह, धान्यहरण, बंदीगृह। उन्होंने युद्ध में प्रयुक्त अस्त्र शस्त्रों की दृष्टि से भी वर्गीकरण किया है जैसे– चक्रयुद्ध, वाणयुद्ध, खड्गयुद्ध, गदायुद्ध, मल्लयुद्ध, (जरासन्ध और भीम) फरसा युद्ध आदि [24]। राजाओं को को यह पूर्ण अधिकार प्रदान किया गया था कि प्रजा की सुख समृद्धि एवं प्रजा की बढ़ोत्तरी के लिए साम, दान, दण्ड एवं भेद की नीतियों को अपनाकर पड़ोसी अथवा शत्रु–राज्यों से संबंध स्थापित करे। शत्रुपक्ष को पराजित करने के उद्देश्य से राजाओं को छल, बल, मंत्रा, औषधि आदि का खुलकर प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त था। राजा प्रद्योत के षड्यंत्र का उत्तर, उदयन के अमात्य यौगन्धरायण ने षडयंत्र के माध्यम से ही दिया [25]। (गुप्त रूप से साक्षात अथवा थोड़ी या अधिक हानि पहुंचाकर प्रसन्नता प्राप्त करना, राजाओं की क्षुद्र मनोवृत्ति के साथ तत्कालीन कुटनीति के प्रयोग का ही प्रमाण है) जिसके दृष्टांत आधुनिक काल की राजनीति में भी बहुधा दिखाई देते हैं। युद्धिष्ठर ने गुप्तचर की बातों का वर्णन जब अपने परिवार के लोगों से किया, तब विकल होकर द्रौपदी ने उन्हें युद्ध करने के लिए कहा, उसने अपनी विचारधारा के समर्थन में शक्तिवाद की युक्तियों का आश्रय लिया और कहा कि जो लोग मायावियों के साथ न्यायपूर्ण नीति का प्रयोग नहीं करते है वह शीघ्र ही अवश्य नाश को प्राप्त करते हैं :–

बृजन्ति ते मूढ़धियः पराभवं भवन्ति मायाविषु मे न मायिन : [26]।

प्रविष्य हि ध्वन्ति शढ़ाः स्तधा विधान सेवृताड.गान्निषिता ड्वेषवः।।

द्रौपदी के व्याख्यान में राजनितिक यर्थातवाद का तीव्र समर्थन है। उसने संक्षेप में कूटनीति की शिक्षा दी है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि राजाओं को राजनीति में कूटनीति के प्रयोग के अधिकार को मान्यता प्राप्त था। किरातार्जुनीय में भीम कहते है कि नृप को शत्रुओं के उदय और पतन पर ध्यान रखना चाहिए, अनुभवी पुरूष केवल तभी शांत रहता है, जब शत्रु को शीघ्र भावी और बड़े खतरे की आशंका हो और इसके विपरीत स्वयं उसका अपना भविष्य निष्कंटक प्रतीत होता हो, अन्यथा वह प्रत्युपाय और प्रतिकार करते है। भीम के अनुसार शक्ति की साधना करने वाले ही सफलता प्राप्त करते हैं।

'शठे शाठ्यं समाचरेत' सिद्धांत का वर्णन भारवि ने अत्यंत सुन्दरता से किया हैं [27]। वस्तुतः संस्कृत साहित्यकारों के ग्रन्थो में राजा के अधिकारों का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत परिलक्षित होता हैं।

4.2.5. मंत्रिपरिषद सम्बन्धी विचार :–

अन्य संस्कृत साहित्य के कृतियों में दृष्टिगत राज्यानुशासन में राजा के लिए मंत्रि–परिषद को परम उपयोगी एवं आवश्यक माना गया है। राजा के पश्चात् उस दूसरा स्थान प्रदान किया गया है और मंत्रियों की नियुक्ति को स्पष्ट आदेश दिये गये हैं। श्रेष्ठ राजा विश्व में अर्जित पद को प्राप्त करने के लिए अत्यंत नीति विशारद मंत्रियों के साथ बैठकर विचार विमर्श करते हैं तथा युक्ति लाभ हेतु यर्थात तत्वदर्शी योगियों का साहचर्य करते हैं।

कालिदास के ''विक्रमोर्वशीय'' में राजा के 'तंत्रााावाप' अर्थात स्वराष्ट्र एवं परराष्ट्र नीति के लिए एक परिषद होती थी जो ''अमात्य परिषद'' अथवा मंत्रिपरिषद कहलाती थी [28]। राजा और मंत्रि को संस्कृत साहित्यकारों ने शासन का दो स्तम्भ माना है। इन दोनों के कुशल एवं ज्ञानपूर्ण युति होने पर ही राज्यलक्ष्मी स्थिर रहती है, उनमें से एक के अक्षम होने पर उनका परित्याग कर देती है।

कालिदास के रघुवंश महाकाव्य में वर्णन आया है कि राजा दिलीप ने पुत्र प्राप्ति के लिए अनुष्ठान करने की इच्छा से अपनी भुजाओं से उतारा हुआ पृथ्वी का भार अपने सचिवों (मंत्रियों) के कंधो पर रख दिया। इससे इस बात का संकेत मिलता है कि राजा दिलीप एक विशाल सम्राज्य के स्वामी थे, उनका एक मंत्रिमण्डल था जो उनके शासकीय कार्यों में सहायता प्रदान करता था [29]। राजा दिलीप की भॉति राजा रघु का भी अपना मंत्रिमण्डल था जिसमें विविध गुणों से सम्पन्न मंत्रियों को नियुक्त किया गया था जो उनके साथ उचित और अनुचित दोनों पक्षो को रखकर उसकी विवेचना करते थे। 'मालविकाग्निमित्रम्' में 'अमात्य परिषद' अथवा 'मंत्रिपरिषद' के सम्बन्ध में विवरण मिलता है कि विविध राजकीय विषयों पर नीति–निर्धारण कर मंत्रि परिषद समस्त विषयों को अंतिम निर्णय हेतु राजा के पास भेजती थी। यद्यपि राजा का निर्णय ही सर्व सम्मति से स्वीकार्य व मान्य होता था तथापि वह मंत्रिपरिषद के परामर्श को कभी भी अनदेखा नहीं करता था [30]। रघुवंश में विवरण आया है कि राजा दशरथ सचिवों की सम्मति से राज्य का समस्त कार्यभार उन पर सौंपकर शिकार के लिए चले जाते थे और राज कार्यों को भूलकर मृगया में आसक्त हो जाते थे [31]। बाण ने भी

अपने ग्रन्थ 'कादम्बरी' में मंत्रिमण्डल और प्रधानामात्य का उल्लेख किया है। एक स्थान पर वे कहते है, जिस प्रकार वषिष्ठ ने दशरथ का, विश्वामित्र ने राम का, धौम्य ने अजातशत्रु का, दमनक ने नल का मंत्रित्व किया उसी प्रकार शुकनास नामक महामति ब्राम्हण तारापीड का अमात्य था [32]। शुद्रक ने भी मृच्छकटिकम्' में नीतिशास्त्र के आलोचन से स्निग्ध और प्रबुद्ध मंत्रिगणों का उल्लेख किया है। विशाखादत्त के अनुसार राजा द्वारा नियुक्त मंत्री तंत्ररहित, मण्डल एवं मंत्ररक्षण के गुणो से युक्त होना चाहिए, अर्थात् वह राज्यकुशल, राज्य की सीमाओं का आलेखन करने वाला तथा राजकीय मंत्रणाओं को गुप्त रखने वाला होना चाहिए [33]। 'स्वप्नवासदत्ता में राजा द्वारा मंत्री को आर्य' तथा 'वयस्क' कहकर सम्बोधित करना मंत्रिपरिषद की महत्ता को इंगित करता है [34]। मंत्रियों में राजा प्रधानमंत्री को अधिक महत्व प्रदान करता था, क्योंकि वह मंत्रिपरिषद और राजा के बीच कड़ी था।

प्रतिज्ञायौगन्धरायण से पता चलता है कि उदयन का केवल यौगन्धरायण पर अत्यधिक विश्वास था यहॉ तक कि वह मंत्रिमण्डल का अतिक्रमण करते हुए सिर्फ उसी पर निर्भर था। मंत्री राजा को शास्त्रोक्त और नीति सम्मत परामर्श ही देते थे। 'मालविकाग्निमित्रम्' में राजा अग्निमित्र द्वारा विदर्भ पर आक्रमण करते समय मंत्रियों द्वारा शास्त्रोक्त परामर्श देना इस तथ्य की पुष्टि करता है [35]। राजा की जय–पराजय में मंत्रिपरिषद की मंत्रगणाओं का विशेष हाथ होता था यद्यपि शक्ति या सैन्यबल और युद्ध सम्बन्धी आदेश राजा के होते थे, तथापि उसके पीछे बुद्धि–कौशल और नीतियॉ उसके मंत्रियों की ही होती थीं। छलपूर्वक बंदी बनाये जाने पर उसके मंत्री यौगन्धरायण द्वारा उन्हें पुनः मुक्त करने तथा उसकी खोई प्रतिष्ठा वापस दिलाने के लिए रचा गया षड़यंत्र इसका प्रमुख उदाहरण है। विशेष परिस्थितियों में प्रधानमंत्री को अपने विवेक अथवा सूझ–बूझ से कोई भी महत्वपूर्ण निर्णय स्वतंत्र रूप से लेने का अधिकार प्राप्त था। भास की कृति में उदयन के निग्रह की बात को कदाचित राजमाता पुत्रमोह के कारण सहजरूप में स्वीकार न कर सके इसलिए यौगन्धरायण द्वारा पहले उन्हें पुत्र विनाश की कल्पना कराना तत्पश्चात् उदयन के निग्रह की बात को घुमा–फिराकर बताना इसका निदर्शन है [36]। वित्त एवं राजकोष पर मंत्रिमण्डल का पूर्ण नियंत्रण होता था। 'रत्नावली' नाटिका में उल्लेख मिलता है कि राजा द्वारा सेनापति विजय वर्मा को विशेष रूप से सम्मानित करने और उसे पारितोषिक देने के लिए मंत्री के पास भेजा गया। यह प्रसंग इसी बात का संकेत देता है। राजा को उचित परामर्श देना और उसके साथ मंत्रणा करना मंत्रियों क प्रमुख कर्तव्य था। मंत्री में स्वामी के प्रति निहित निष्ठा, साहस और प्राणोत्सर्ग की आकांक्षा ही उसके मंत्री पद को सार्थक करती है। वस्तुतः राजा के निरीक्षण में मंत्री ही समस्त राज–व्यवस्था का सम्पादन करते थे, दोनों को परस्पर अविरोध कार्य करना पड़ता था। श्रेष्ठ मंत्रणा देने वाले मंत्रियों से युक्त राजा सर्वदा प्रगति के मार्ग पर अग्रसर रहे हैं। कर्तव्यनिष्ठ मंत्री होने के नाते रावण के मंत्री माल्यवान् का सीता हरण के फलस्वरूप होने वाले सम्भावित विनाश की कल्पना से चिन्तित होना उक्त तथ्य की पुष्टि करता है [37]। राजा दुष्यन्त द्वारा अपने मंत्रियों से मंत्रणा करना, तथा यौगन्धरायण की मंत्रणाओं के कारण ही महाबली राजा प्रद्योत का उससे प्रभावित होना आदि सन्दर्भ मंत्रियो की कर्त्तव्यनिष्ठ एवं उचित मंत्रणा के ही उदाहरण हैं।

स्वामी के प्रति निष्ठा रखना, उसके लिए युद्ध करना, तथा उसके समक्ष आने वाले सभी कष्टों से जूझना ही मंत्रीपद का गौरव माना गया है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शकुन्तला के विरह में मानसिक रूप से अस्वस्थ दुष्यन्त के स्थान पर जहॉ उसके मंत्री द्वारा ही राज्य का कार्यभार सम्भाले जाने का विवरण प्राप्त होता है वहीं युद्ध के लिए प्रस्थान करने से पूर्व राजा दुष्यन्त द्वारा अमात्य पिशुन को राज का कार्यभार सौंपने का उल्लेख है [38]।

4.2.6. मंत्रिपरिषद का संगठनः–

इस प्रकार के संस्कृत वांड्मय के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि असाधारण और विशेष कार्यों पर मंत्रिपरिषद की विशेष बैठक में विचार–विमर्श किया जाता था किन्तु सामान्य और दैनिक कार्यों का कर्त्तव्य था कि यदि किसी कारणवश राजा धर्मासन पर बैठने में असमर्थ हो तो वे समस्त कार्यों का विवरण लिखित रूप से राजा के सम्मुख प्रस्तुत करें और यदि स्वंय मंत्री राजा के सम्मुख उपस्थित होने में किसी कारणवश असमर्थ हो तो उस समस्त जानकारी एवं कार्य का विवरण लिखित रूप में राजा के सम्मुख प्रस्तुत करे [39]।

इस साहित्य में पद एवं विभाग विभाजन का विवरण का उल्लेख निम्न प्रकार से मिलता है :–

(1) **पुरोहित** – राजाओं का गुरू होता था और राजा को सन्मार्ग पर चलाने का प्रयत्न करता था। धार्मिक कृत्यों के सम्पादनार्थ सर्वसम्मत न्याय एवं शास्त्रीय सम्मति के लिए पुरोहित की नियुक्ति की जाती थी। 'रघुवंशम्' में पुरोहित वरिष्ठ का उल्लेख आया है, जो राजा के समस्त विघ्नों को दूर करने वाले, मार्गदर्शक ब्राम्हण एवं वेदों के ज्ञाता थे।

(2) **राज प्रतिनिधि** –(उपराज) राजा की अनुपस्थीत में उसका प्रतिनिधि उपराज युवराज होता था, वह राजवंश का ही कोई राजकुमार या राजा का भाई, भतीजा, पुत्र, दत्तक पुत्र अथवा पौत्र हो सकता था, यह पद भी अन्य मंत्रियों की भॉति राजा के सहायक का ही था।

(3) **प्रधानमंत्री** – मंत्रिपरिषद का सबसे महत्वपूर्ण सदस्य होता था, भिन्न–भिन्न कालों में यह पद मंत्री, महामंत्री, महामात्य, अग्रमहामात्य, सर्वप्रधानमंत्री आदि नाम से सम्बोधित होता रहा है, कही–कही तो पुरोहित से भी ऊॅचा पद प्रधानमंत्री का भी माना गया है।

(4) **सचिव** – प्रधानमंत्री के बाद सचिव (युद्ध मंत्री) का पद का उल्लेख मिलता है, अधिकांशतः इसकी गणना मंत्री के रूप में की गई है। युद्ध मंत्री युद्धों की रूपरेखा, शस्त्रों का संचालन, सेना का संगठन, दुर्ग के निर्माण का कार्य करता है, उसमें इन सभी गुणों में निपुणता होना भी अति आवश्यक बताया गया है।

(5) **मंत्रिन्/मंत्री** – मंत्रिन को परराष्ट्र मंत्री भी कहा गया है। यह पद बहुत महत्वपूर्ण है। उसे समस्त करद राजाओं का पूरा लेखा–जोखा रखना पड़ता था, इसके अतिरिक्त गुप्तचर विभाग एवं महमुद्राध्यक्ष विभाग भी उसके ही अधीन रहा करता था ऐसा भी ग्रन्थों से विदित होता है।

(6) **प्राड्.विवाक** – यह न्याय–विभाग का मुख्य अधिकारी तथा राज्य का प्रधान न्यायधीश होता था। उसकी सहायता के लिए सात, पॉच या तीन सभ्यों की नियुक्ति की जाती थी।

(7) **पण्डित** – धार्मिक एवं नैतिक विषय 'पण्डित' नामक अधिकारी के अधीन थे, धार्मिक और सांस्कृतिक नीतियों का निर्धारण करना भी इसी मंत्री का कार्य था। विभिन्न कालों में अनेक ग्रन्थों में इस मन्त्री को धर्ममहामात्र, श्रमण, विनय स्थिति स्थापक, धर्माकुश, धर्म प्रधान आदि नामों से अभिहित किया गया है।

(8) **सुमन्त्र** – राजकोष के अधिकारी को सुमन्त्र या समाहर्ता कहा गया है। कोषाध्यक्ष का पद अति महत्वपूर्ण माना जाता था। राज्य के कोषगृह, पण्यगृह, कोष्ठागार, कुप्यागार, शस्त्रागार और कारागार आदि की व्यवस्था एवं देख–रेख करने का दायित्व भी इसी मंत्री का होता था।

(9) **अमात्य** – यह माल विभाग का मंत्री होता था। अमात्य राज्य के ग्रामों, नगरों, वनों, खानों आदि से प्राप्त होने वाली आय का विवरण रखता था, साथ ही भूमि आदि से सम्बन्धित भी कार्यों के सम्पादन का दायित्व इसी मंत्री को माना जाता था।

(10) **दूत** – दूत एक कूटनीतिक अधिकारी था। जिसकी गणना मंत्रियों से होती थी जो अन्य राज्यों से सम्बन्धों को सुनिश्चित करने में सक्रिय रहता था, अंतराष्ट्रीय सम्बन्धों संधि विग्रह आदि में इस पद की भूमिका महत्वपूर्ण हुआ करनी थी [40]।

4.2.7. राज्यानुषासन के अन्य विविध पक्ष : –

इस प्रकार के परवर्ती संस्कृत साहित्यिक कृतियों में राज्यानुशासन के अन्य अनेक सिद्धांत प्रतिबिम्बित होते हैं जिन पर विचार करना यहां पर समीचीन होगा।

4.2.7.1. राज्य के सप्तांग सिद्धांत –

कालिदास ने ''मालविकाग्निमित्रम्'' में राज्य के अंगों को 'सप्त प्रकृति' का नाम दिया है तथा राज्य के ये सात अंग बतलाए हैं – स्वामी, अमात्य, कोष, बल, सुहृदय, राष्ट्र और दुर्ग, इनमें स्वामी अर्थात राजा को प्रधन प्रकृति माना गया है [41]। स्वामी राजा है जो सर्वोच्च शासक है तथा अमात्य–अर्थात मंत्रिमण्डल कोष अर्थात धन, बल

का अर्थ है सेना, सहृदय यानि मित्र, राष्ट्र का संबंध भूमि से है एवं दुर्ग का आशय नगर अथवा राजधानी है। 'मुद्राराक्षस' नाटक में भी राजा को मनुष्यों में देवता के रूप में वर्णित करने का उल्लेख प्राप्त होता है [42]।

4.2.7.2. षाड्.गुण्य –

प्राचीन भारतीय शासन तंत्र में राज्य की परराष्ट्र–नीति का संचालन छह (6) गुणों पर आधारित था, इन्हीं गुणों के अनुसार कार्य करना पौरूष की कोटि में आता था। इन्हें षडंग भी कहा गया है ये छह इस प्रकार हैं – संधि, विग्रह यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव। संधि का अभिप्राय है प्रतिज्ञाबद्ध होना, विग्रह = विरोधी से युद्ध करना, यान का आशय है विरोधी के प्रति सैन्य संचालन करना तथा आसन अर्थात तटस्थ रहना, संश्रय का अभिप्राय है किसी अन्य का आश्रय लेना द्वैधीभाव का अर्थ है एक के साथ संधि और दूसरे के साथ विग्रह करना। कालिदास ने राजनीति के इन साधनों को शत्रुओं की योजना को सम्पूर्ण रूप से असफल कर देने वाला बताया है जो विरोधियों को भ्रमित कर देते है [43]।

मुद्राराक्षस में भी इस बात के संकेत मिलते हैं कि मंत्रियों और गुरूजनों के माध्यम से इन गुणों का प्रयोग किया जाना चाहिए मंत्री और गुरू के साथ इन छह

गुणों के प्रति जागरूक रहते राजा विजय श्री को प्राप्त करता है [44]। ग्रंथों के अनुसार इन छह गुणों का स्वरूप एवं उपयोगिता इस प्रकार है –

संधि – कुछ पणों के आधार पर दो राजाओं में जो मेल हो जाता है, उसे संधि कहते हैं। संस्कृत महाकाव्यों में उल्लेख मिलता है कि उपकारी शत्रु से संधि करना उचित है किंतु अपकारी मित्र से नहीं अर्थात परिस्थिति समझकर मित्र से भी संधि करना अनुचित और बलवान शत्रु से भी समझौता कर लेना उचित मानते हुये, प्राण रक्षार्थ संधि करने के निश्चय को उचित ठहराया गया है। 'रघुवंश' में संधि के दो प्रकारों 'उपहार संधि' और 'कन्या संधि' का उल्लेख करते हुये कालिदास ने उपहार संधि को सर्वश्रेष्ठ माना है [45]।

विग्रह – विग्रह का अभिप्राय युद्ध से है। महाकाव्य 'रघुवंश' के अनुसार शत्रु के साथ विग्रह ऐसे समय करना उचित होता है जब राजा स्वयं शक्ति सम्पन्न हो और शत्रु विपन्न अवस्था में हो। उस राजा को एक कुशल राजनीतिज्ञ माना गया है जो अपने दोषों को सदैव दूर करता रहे और शत्रु के छिद्रों से लाभ प्राप्त करता रहे [46]। भट्टि काव्य में कहा गया है कि राजा को सदैव ऐसे समय विग्रह करना चाहिए जब वह स्वयं पुष्ट और समृद्ध हो और विपक्षी क्षीणता की स्थिति में हो, क्योंकि ऐसे समय विजय निश्चित होती है।

यान – शत्रु पर आक्रमण करने के लिए सेना का संचालन करना अथवा युद्धार्थ प्रयाण करना ही 'यान' है। भट्टिकाव्य में उल्लेख मिलता है कि अपनी शक्ति को बढ़ा हुआ देखकर दिग्विजय करने और साम्राज्य स्थापित करने के लिए राजा का प्रस्थान करना ही यान है। यान की दो अवस्थाएं बताई गई हैं – अपनी शक्ति में वृद्धि और दूसरी, शत्रु की शक्ति की क्षीणता। कालिदास ने रघुवंश में सन्धाय यानका उल्लेख किया है। महाकवि दण्डी ने भी मगधाधिप राजहंस के पुत्र कुमार राजवाहन के शिक्षा विषयों के उल्लेख के प्रसंग में षडंगवेद के यान की चर्चा की है [47]।

आसन – युद्ध की औपचारिक घोषणा के पश्चात् राजा का स्वयं को शांत और शत्रु के प्रति निष्क्रिय बताना अथवा शत्रु के विरूद्ध किसी स्थान पर डरे रहना आसन माना गया है। (विशेष अवसर पर विशेष स्थिति को अपनाना आसन)

संश्रय – इसे आश्रय भी कहा गया है। जब शत्रु प्रबल हो और राजा अपनी स्थिति हीन देखे और उसे अपनी पराजय की अधिक संभावना प्रतीत हो तो उस दशा में वह अधिक प्रबल किसी दूसरे राजा का आश्रय लेकर, अपनी रक्षा का उपाय करे, यही संश्रय हैं। रघुवंश में कहा गया है कि शत्रुपक्ष से आक्रांत राजा, यदि स्वयं अपनी रक्षा न कर सके तो वह अन्य धर्मनिष्ठ मध्यम राजा का आश्रय ले ले [48]।

द्वैधीभाव – इसका शाब्दिक अर्थ है दो भावों का होना। ये दो भाव सेना विभाजन अथवा राज्य की शत्रु मित्र परक नीति में अथवा शांति और युद्ध के विचारों में हो सकते हैं। भट्टि काव्य के अनुसार द्वैधीभाव में दो प्रकार के भाव का समाविष्ट है अर्थात संधि और विग्रह से अपनी वृद्धि का विचार कर, एक शत्रु के साथ संधि और उसके सहायक के साथ विग्रह करना है। समय के अनुसार शत्रु से दुहरा व्यवहार करने वाला राजा अपने शत्रु का विश्वास पात्र बना रहता है और गुप्तरीति से शत्रु का भेदन भी कर देता है [49]।

4.2.7.3. राजनय के चतुवर्ग अथवा चतुरूपाय – संस्कृत साहित्य में नय, उपाय तथा तंत्र शब्दों का प्रयोग नीति के पर्याय के रूप में हुआ है। किसी राज्य की स्थिरता आंतरिक नीति के साथ–साथ उसकी सुदृढ़ पर राष्ट्र नीति पर अवलम्बित मानी गयी है। भारतीय राजनय के चार उपायों – साम, दाम, दण्ड और भेद का उल्लेख प्राप्त होता है। जिन्हें चर्तुवर्ग अथवा चतुरूपाय कहा गया है। 'मुद्राराक्षस' में इन उपायों को 'उपायनिलय' नाम से संबोधित किया गया है और इन्हें राजनैतिक कार्यो में सहायक बताया गया है [50]। भारवि ने भी उल्लेख किया है कि साम, दाम, दण्ड, भेद की नीतियों का समुचित रूप से प्रयोग किये जाने पर राज्य की समृद्धि होती है और ऐष्वर्य की प्राप्ति होती है [51]।

4.2.7.4. त्रिशक्ति – प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओं ने राज्य की उन्नति तथा राजा की सफलता के लिए तीन शक्तियों की विवचेना की है। प्रभुशक्ति, मंत्रशक्ति और उत्साह शक्ति। ज्ञान या नीति का बल मंत्रशक्ति, कोष और सेना का बल प्रभुशक्ति तथा राजा के अंदर का शौर्य और बल उत्साह शक्ति है। रघुवंश के टीकाकार मल्लिनाथ ने भी प्रभाव, मंत्र और उत्साह इन तीनों शक्तियों का उल्लेख किया है – **''शक्तयस्तिस्त्रः प्रभाव मन्त्रोत्साहा''** [52]। दण्डी ने भी त्रिशक्ति–सिद्धांत को मानते हुये कहा है कि प्रभुशक्ति और मंत्रशक्ति के सहारे ही प्रजा स्थिर रह सकता है [53]। चण्डेश्वर ने भी त्रिशक्ति सिद्धांत का समर्थन करते हुये प्रभावजा, उत्साहजा और मंत्रजा का उल्लेख किया है जिसमें उन्होंने मंत्रजा को अधिक महत्व प्रदान किया है [54]।

4.2.7.5. त्रिवर्ग सिद्धांत – प्राचीन भारतीय विद्वानों ने राज्य के विषय में आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करके उसके तीन तत्वों को समझ कर त्रिवर्ग के सिद्धांत को जन्म दिया – क्षत्र, स्थान व वृद्धि। क्षत्र अर्थात राजसत्ता, जो बहुत हद तक राजा के व्यक्तित्व पर निर्भर होती है। स्थान, अर्थात राजशक्ति जिसमें सेना कोष और राज्य विस्तार आदि समाविष्ट होता है। वृद्धि अर्थात राज्य की आर्थिक आय। किसी भी राज्य के सशक्त बनने हेतु इन तीन तत्वों का सम्यक, विनियोग अत्यंत आवश्यक माना गया है। संस्कृत साहित्यकारों के ग्रन्थों में भी इस प्रकार के सिद्धांत के तत्व यत्र–तत्र दृष्टिगोचर होते हैं [55]।

4.2.7.6. त्रिविध नीतिशास्त्र – प्राचीन संस्कृत महाकाव्यों में ऐहिक, आयुष्मिक और ऐहिकायुष्मिक तीन प्रकार के नीति शास्त्रों को बताया गया है। मंत्रिगण अपने लौकिक स्वार्थ के लिए विष, शस्त्र आदि से स्वामी का वध करने के लिए जिस नीति का प्रयोग करते हैं वह, ऐहिक नीति की श्रेणी में आता है। जिस नीति शास्त्र द्वारा मंत्री निरपराध होने पर भी स्वामी द्वारा पीड़ित किया जाये किन्तु फिर भी मंत्री प्रसन्न रहे वह आयुष्मिक नीति मानी गयी है। जिस नीति का ज्ञान रखने वाला मंत्री राज्य को हस्तगत करने में सक्षम होने पर भी अपने स्वामी का अहित नहीं करता वह ऐहिकायुष्मिक नीति कही गई है। संस्कृत के साहित्यकारों के कथानकों में इन त्रिविध नीतियों का अनेक स्थानों पर प्रसंगवश उल्लेख मिलता ही है।

4.2.7.7. त्रिविध सिद्धियां – प्राचीन भारतीय राज्यानुशासन में शासन के तीन प्रकार माने गये हैं – राजायत्त, सचिवायत्त और उभयायत्त। इसी आधार पर संस्कृत महाकाव्यों में

भी शासन के तीन सिद्धियों का सिद्धांत निरूपित किया गया है। 'मुद्राराक्षस' के अनुसार प्रभुसिद्धि, अमान्य सिद्धि और उभय सिद्धि के रूप में। शासन का सम्पूर्ण अधिकार राजा में नीहित होने पर उसे राजायत्त शासन की सफलता को 'प्रभुसिद्धि' कहा गया है। शासन का सम्पूर्ण अधिकार मंत्रियों में केंद्रित होने पर सचिवायत्त शासन कहा गया है, जिसकी सफलता 'अमात्य सिद्धि' कही गयी है। जब शासन का संचालन राजा और मंत्रियों के परस्पर सहयोग से होता है उसे उभयायत्त शासन की संज्ञा दी गई है और उसकी सफलता को उभय सिद्धि कहा गया है [56]। 'मुद्राराक्षस' में उल्लेखित है कि प्रभुशक्ति और मंत्रशक्ति दोनों के सहारे ही राज्य स्थित रह सकता है। शासन की इन तीनों व्यवस्थाओं में उभयायत्त शासन तथा सिद्धियों में उभयसिद्धि को श्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि राजायत्त शासन अथवा प्रभुसिद्धि में राजा के स्वेच्छाचारी होने का भय रहता है [57]। यहां पर यह तथ्य भी ध्यातव्य है कि आधुनिक राजनीति शास्त्र में भी शासन के प्रकारों के वर्गीकरण में शासनाध्यक्षों एवं उनके मंत्रिमण्डल में संतुलित युति, जो बहुधा प्रजातांत्रिक देशों में दृष्टिगोचर होती है उसे ही उत्तम प्रणाली माना जाता है।

4.2.7.8. चतुर्विद्या – 'रघुवंश' में राजाओं द्वारा समस्त प्रकार के अध्ययन किए जाने वाले विषयों को विद्या कहा है और इनकी संख्या चार बताई गयी है। आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति [58]। 'कुमारसम्भव' महाकाव्य में भी आन्वीक्षिकी के अंतर्गत योगशास्त्र के संकेत मिलते है [59]। रघुवंश में राजा ब्रम्हनिष्ठ जो रघुकुल के राजा थे, का एक प्रसंग वर्णित है, जिन्होंने जैमिनी ऋषि का शिष्य बनकर उनसे योग विद्या प्राप्त की थी [60]। नीलकण्ड ने भी अपने ग्रन्थ में नरपतियों के लिए 'आन्वीक्षिकी' जो तर्कशास्त्र और वेदान्त से पुष्ट हो, के अवगाहन को आवश्यक बताया है [61]। इस प्रकार इन साहित्यकारों ने प्राचीन भारतीय राजनीति में वर्णित चतुर्विद्या के सिद्धांत का ही समर्थन एवं अवगाहन किया है।

4.2.8. सारांष :–

अस्तु, कहा जा सकता है कि रामायण और महाभारत को उपजीव्य मान कर लिखे गये अन्य परवर्ती साहित्य की एक सुदीर्घ परम्परा रही है जो, आज तक अक्षुण्ण गति से भारतीय मानस में प्रवाहमान है और जिनकी गरिमा का निरंतर सम्मान होता रहा है। इस प्रकार के साहित्य के नायक क्योंकि इतिहास के प्रसिद्ध पात्र रहे हैं इसलिए इनसे

प्राचीन भारतीय राजनीति के सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्षों का सहज आंकलन प्राप्त हो जाता है, जो वास्तव में भारतीय राज्यानुशासन की हिंदू परम्परा को ही अभिव्यक्त करते हैं। इसीलिए संस्कृत साहित्य के इन ग्रंथों को भारतीय इतिहास, राजनीति एवं लोक प्रशासन के क्षेत्र की अमूल्य नीधि के रूप में स्वीकार किया गया है। इस वांड्.मय के अद्भुत सांस्कृतिक और राजनीतिक संदेश है जिनकी न केवल भारत वरन् विश्व मानवता को आवश्यकता है। इनमें राष्ट्र एवं समाज को सुव्यवस्थित, अनुशासित तथा गतिशील करने की दिशा में किया गया एक सार्वकालिक और सार्वभौम चिंतन का तत्व विद्यमान है [62]।

4.2.9. अभ्यास प्रष्न –

1. अन्य परवर्ती संस्कृत साहित्य के स्वरूप के बारे मे संक्षेप मे टिप्पणी लिखिए।
2. अन्य संस्कृत साहित्य मे राजधर्म के विभिन्न पक्षों का विवेचन कीजिए।
3. महाकवि कालिदास के साहित्य मे निरूपित राजधर्म सम्बन्धी विचारों की व्याख्या कीजिए।
4. भारतीय संस्कृत वांड्.मय में राजा का स्थान महत्वपूर्ण हैं, सिद्ध कीजिए।

4.2.10. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –

(1) काणे, पी.वी., धर्मशास्त्रा का इतिहास, भाग–2 पृष्ठ 484
(2) महाभारत, शांतिपर्व, 67–17, 67–3–16.
(3) विषाखदत्त, मुद्राराक्षस, 4/14
(4) ज्ञानी शिवदत्त, भारतीय संस्कृति, पृष्ठ – 184
(5) विशाखादत्त, मुद्राराक्षस, 3/16
(6) अभिज्ञानशाकुन्तलम्, पंचम अंक / श्लोक 3, श्लोक 6–8
(7) कालिदास, रघुवंश 4/12
(8) कालिदास, अभिज्ञानशांकुतलम्, अंक–6/23
(9) कालिदास, रघुवंश 1/124
(10) भवभूति, उत्तम राम चरितम् 1/1
(11) भास, अविमारक, 1/12,
(12) कालिदास, रघुवंश 14/67
(13) दण्डी, दशकुमार चरितम् चौखम्बा संस्करण, पृष्ठ 420
(14) विशाखादत्त, मुद्राराक्षस अंक–3
(15) शुद्रक, मृच्छकटिकम, अंक–9, पृष्ठ–342
(16) कालिदास, अभिज्ञानशाकुंतलम 6/4
(17) भवभूति, महावीरचरितम्, अंक–4, पृष्ठ–85
(18) मृच्छकटिकम् अंक–9, पृष्ठ–378
(19) शुद्रक, मृच्छकटिक, 9, पृष्ठ–343
(20) शुद्रक, मृच्छकटिक, 9, पृष्ठ–379
(21) रघुवंश, 2/66
(22) मृच्छकटिकम, 7/1
(23) भास प्रतिज्ञायौगन्धरमरण, अंक–2, पृष्ठ–83
(24) डॉ.वी.पी. वर्मा आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन, आगरा, पृष्ठ–42
(25) भास प्रतिज्ञायौगन्धरमरण, अंक–4,
(26) भारवि, किरातार्जुनीय 1/30
(27) डॉ. वी.पी. वर्मा आद्युनिक भारतीय राजनितीक चिंतन, आगरा, पृ. 33
(28) विक्रमोवर्शीय, अंक 3, पृ. 254
(29) रघुवंश, 1/34

(30) 'मालविकाग्निमित्रम, अंक–5
(31) रघुवंश, 8/17
(32) कादम्बरी, रामतेजशास्त्री की हिन्दी टीका साहित, वाराणसी पृ. 26
(33) मृद्राराक्षस, अंक–3,
(34) भास, स्वप्नवासदत्ता, अंक–6
(35) कालिदास, मालविकाग्निमित्राम्, अंक–1
(36) मास, प्रतिज्ञायौगन्धरायण अंक–4, 1/3
(37) भवभूति, महावीर चरितम् 7/1
(38) कालिदास, अभिज्ञानशकुन्तलम्, 6/63
(39) कालिदास।। अभिज्ञानशकुन्तलम, अंक–6
(40) डॉ. मुकेश कुमार बंसल प्राचीन भारतीय राज्यानुषासन पंचम अध्यय पृ. 138
(41) कालिदास, मालविकाग्निमित्रम् 1/8
(42) कपूर, शैलेन्द्र नाथ, प्राचीन भारत में राजतंत्र
(43) रघुवंश, 8/20
(44) मुद्राराक्षस, 7/13,
(45) जौहरी मनोरमा, प्राचीन भारत में राज्य और शासन व्यवस्था, पृष्ठ–127,
(46) रघुवंश, 15/17
(47) दण्डी, दशकुमार चरितम् चौखम्भा संस्करण, पृष्ठ–224
(48) रघुवंश, 13/17
(49) महाकवि भट्टि, रावणवध, 12/33
(50) मुद्राराक्षस, 1/5
(51) भारवि, किरातार्जुनीय, 1/15
(52) रघुवंश, 3/3
(53) दण्डी, दशकुमार चरिचतम, चौखम्भा संस्करण, पृष्ठ – 433
(54) चण्डेश्वर, राजनीति रत्नाकर, बलनिरूपण तरंग
(55) ज्ञानी शिवदत्त, भारतीय संस्कृति, पृष्ठ–188
(56) मुद्राराक्षस, 3/9–20
(57) विशाखादत्त, मुद्राराक्षस 3/33
(58) रघुवंश, 3/30
(59) कालिदास, कुमार सम्भवम्, 3/49
(60) रघुवंश, 18/33
(61) नीलकण्ठ, नीतिमयूख, सम्पादित महादेव गंगाधर वक्रे बम्बई पृष्ठ – 45
(62) शर्मा, केदार प्राचीन संस्कृत वाड्मय में राजधर्म का स्वरूप द्वितीय भाग पृष्ठ – 320

इकाई-3 : ज़ियाउद्दीन बरनी एवं अबुल फज़ल के राजनीतिक विचार

इकाई की रूपरेखा :

4.3.1. उद्देश्य

4.3.2. प्रस्तावना

4.3.3. ज़ियाउद्दीन बरनी (1285-1359)

4.3.3.1 जीवन काल

4.3.3.2. बरनी के विचारों का विकास एवं रचनाएँ

4.3.3.3. बरनी के राजनीतिक सिद्धांत

4.3.3.4. आदर्श शासक के विषय में बरनी के विचार

4.3.3.5. राज्य के कानून, न्याय व दंड के विषय में बरनी के विचार

4.3.3.6. प्रशासन व सेना संबंधी विचार

4.3.3.7. आर्थिक व्यवस्था के विषय में बरनी के विचार

4.3.3.8. हिंदू और मुस्लिम श्रमिक व निम्नवर्ग के प्रति बरनी के विचार

4.3.3.9. बरनी का आलोचनात्मक मूल्यांकन

4.3.4. अबुल फज़ल (1551-1602)

4.3.4.1. जीवन परिचय

4.3.4.2. पादशाहत (बादशाहत) का सिद्धांत

4.3.4.3. बादशाहत में संप्रभुता

4.3.4.4. सहिष्णुता एवं शांति का सिद्धांत-सुलह-ए-कुल

4.3.4.5. दीन-ए-इलाही : धार्मिक समन्वय की अवधारणा

4.3.4.6. समाज का वर्गीकरण

4.3.4.7. प्रशासनिक व्यवस्थाओं पर विचार

4.3.4.8. न्याय का दैवीय सिद्धांत

4.3.4.9. अबुल फज़ल का मूल्यांकन

4.3.5. पाठसार/ सारांश

4.3.6. अभ्यास/ बोध प्रश्न

4.3.6.1. बहुविकल्पीय प्रश्न

4.3.6.2. लघु उत्तरीय प्रश्न

4.3.6.3. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

4.3.7. कठिन शब्दावली

4.3.8. संदर्भ ग्रंथ-सूची

4.3.1. उद्देश्य

यह इकाई मध्ययुगीन राजनीतिक विचारक ज़ियाउद्दीन बरनी एवं अबुल फज़ल के राजनीतिक विचारों पर प्रकाश डालती है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

1. बरनी के विचारों के अध्ययन से सल्तनतकालीन राजनीतिक व्यवस्थाओं को समझ सकेगें।
2. अबुल फज़ल के विचारों के अध्ययन से मुगल कालीन राजनीतिक व्यवस्थाओं के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेगें।
3. मध्ययुगीन भारत में एक समधर्मी/सामंजस्यपूर्ण राजनीतिक विन्यास का विकास हुआ, जिसे हिंदुस्तानी दृष्टिकोण कहा जाता है, इसके बारे में जान सकेगें।
4. इन दोनों विचारको के विचारों के अध्ययन से मध्ययुगीन राजनीतिक व्यवस्थाओं, मुद्दों एवं समस्याओं के बारे में ज्यादा बेहतर समझ विकसित कर सकेगें।

4.3.2. प्रस्तावना

मध्ययुगीन काल मुस्लिम शासकों के आगमन के साथ लोगों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और प्रशासनिक जीवन में नए पहलुओं की शुरुआत के कारण भारतीय राजनीतिक विचारों के इतिहास में एक विशिष्ट चरण का प्रतिनिधित्व करता है। जीवन के इस्लामी तरीक़े की अनूठी विशेषता, जो मध्ययुगीन काल से अस्तित्व में थी, वह थी क़ुरान के नियमों की सार्वभौमिकता में विश्वास, जैसा कि पैगंबर मोहम्मद की शिक्षाओं से प्राप्त होती है। नतीजतन, शरीयत, जो क़ुरान के उपदेशों पर आधारित है, जीवन के अस्तित्व पर अंतिम अधिकार के रूप में ली जाती थी, जो इस तर्क के साथ थी कि राज्य एवं सरकार को शरीयत के उद्देश्यों को पूरा करना है। राजनीतिक सोच की विशिष्ट विधा ने अब इतिहास का रूप और इतिहासकारों का काम ले लिया था। इस संबंध में, मध्यकालीन प्रतिनिधि विचारक ज़ियाउद्दीन बरनी तथा अबुल फज़ल जैसे विचारक मिलते हैं, जिनकी रचनाओं में मध्य युग के राज्य एवं शासन कला के स्वरूप की जानकारी मिलती है, जो मध्यकालीन राजनीति की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है।

भारत का इस्लाम से राजनीतिक संपर्क आठवीं सदी में सिंध पर अरब विजय के साथ हुआ, परंतु इस विजय का कोई स्थायी प्रभाव भारतीय राजनीति पर दिखाई नहीं देता है, क्योंकि इसके बाद शताब्दियों तक अरब शासन का कोई विस्तार भारत में नहीं हुआ। 11वीं सदी में गजनी के सुल्तान महमूद गजनवी ने कई बार भारत पर आक्रमण किया, किंतु ये आक्रमण राजनीतिक विस्तार के बजाय लूटपाट पर ज्यादा केंद्रित थे जिसके कारण उत्तर-पश्चिम क्षेत्रों के अलावा यह अन्य क्षेत्रों में अधिकार नहीं जमा सके। 12वीं सदी में गौर के राजा मोहम्मद गौरी के आक्रमण ने भारत में मुस्लिम राज्य की जड़ें जमा दी। पर सही मायने में 1206 में दिल्ली में स्वतंत्र सल्तनत की स्थापना हुई और 18वीं सदी में अंग्रेजों के आगमन तक यहाँ इस्लामी

राज्य कायम रहा। हालांकि सुदूर दक्षिण में इससे चुनौती दी गई और अंतिम चरण में कई क्षेत्र हिंदू नियंत्रण में भी रहे।

जब मुसलमानों का भारत में आगमन हुआ तब यहाँ अनेक उतार-चढ़ाव व फेरबदल हुए, क्योंकि मुस्लिम अपने साथ एक नई परंपरा इस्लाम के रूप में लेकर आए। इस्लाम और हिंदू परंपराओं का यह सम्मिलन अविस्मरणीय बन गया। हिंदुओं ने जहाँ इस नए धर्म के कुछ विश्वासों को स्वीकारा, वहीं इस्लाम भी हिंदू धर्म से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। हिंदू धर्म और इस्लाम के संश्लेषण से एक नई विचारधारा का विकास हुआ, जिसे समन्वयवाद के नाम से जाना जाता है। इस समन्वयवादी विचारधारा का परिचय हमें कबीर और नानक जैसे संतों के विचारों में दिखाई देता है।

राजनीतिक क्षेत्र में मुस्लिमों की मान्यताएँ ग्रीक विचारकों से मेल खाती है, कि "कुछ लोग शासित होने के लिए तथा कुछ शासन करने के लिए ही पैदा होते हैं।"[1] इनका मानना था कि शहंशाह या सुल्तान धरती पर अल्लाह का दूत है जो 'कुरान' के नियमों के आधार पर शासन करने के लिए बाध्य है। इस्लामिक विचार केवल पैगंबर मुहम्मद द्वारा बताए गए उपदेश मात्र नहीं हैं, बल्कि इस्लाम में इन विचारों के सम्मिलन से एक अलग राजनीतिक व्यवस्था को भी रचा गया है। तीन प्रमुख प्रवृतियाँ हम इस्लाम में देख सकते हैं - (1) शरियत का पवित्र कानून जो कुरान पर आधारित है; (2) पिछले सालों की ऐतिहासिक परंपराएँ; और (3) इस्लामिक समुदाय की सम्मति व समैक्यता। साथ ही इस्लाम में यह भी मान्यता है कि शरियत के बाहर चलने वाले शासन को न्यायसंगत नहीं ठहराया जा सकता।[2] भारत की मुस्लिम शासन-व्यवस्था में इस्लाम को राजधर्म का स्थान प्राप्त हो गया था, जिसके सिद्धांतों की रक्षा करना तथा उसका प्रचार-प्रसार करना सुल्तान और उसकी सरकार का प्रथम कर्तव्य था। यदा-कदा मुस्लिम शासकों द्वारा सरकारी तंत्र तथा धन का प्रयोग इस कार्य के लिए किया जाता था परंतु सभी शासक ऐसे नहीं थे। इस प्रथा के अपवाद स्वरूप अलाउद्दीन खिलजी और मोहम्मद बिन तुगलक जैसे शासक भी थे जिन्होंने इस्लाम का प्रचार करने तथा हिंदुओं को मुसलमान बनाने के लिए राजतंत्र व धन का प्रयोग नहीं किया। बरनी इन दोनों शासकों के कार्यकाल से जुड़ा रहा और अपनी रचनाओं में उसने इस पर प्रकाश डाला है। वास्तव में सिद्धांत और व्यावहारिक राजनीति में बहुत फर्क होता है।

सुल्तानों एवं मुगल बादशाहों का शासन (1206 से 1857 ई.) छह शताब्दियों से अधिक समय तक भारत में चलता रहा। राजनीतिक संघर्षों को देखते हुए कई बार ऐसा लगता है कि

---

[1] मेहता, वी. आर., (2008), फाउंडेशन ऑफ इंडियन पॉलिटिकल थॉट, दिल्ली, मनोहर पब्लिशर्स, पृ. 134-135

[2] त्यागी, रूचि, (2016), *प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत का राजनीतिक चिंतन : प्रमुख परम्पराएं एवं चिंतन*, दिल्ली, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, पृ. 31

उस समय हिंदू मुसलमानों के बीच लगातार युद्ध व हिंसा होती रही है, दोनों पक्षों के बीच कभी मेलजोल नहीं रहा, परंतु यह पूरा सच नहीं है। सावधानीपूर्वक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक क्षेत्र में संघर्षरत रहने पर भी सामाजिक व सांस्कृतिक क्षेत्रों में इन दोनों वर्गों के मध्य एक पर्याप्त सहयोगिता का निर्माण हो चुका था। आरंभिक संघर्ष के बाद हिंदू-मुस्लिमों के मध्य मित्रता का भाव पनपने लगा था। जैसा कि सूक्ष्म और निष्पक्ष दृष्टि से अध्ययन करने के बाद जान मार्शल ने कहा, यह अनोखा समन्वय विश्व इतिहास में घटित अद्भुत और विचित्र घटनाओं में से एक है।'

मुस्लिम शासकों की शासन प्रणाली को ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि उनका शासन सैद्धांतिक रूप से इस्लाम धर्म के सूत्रों से संचालित होता दिखाई देता है, पर व्यवहार में वह उससे भिन्न था। जिस देश में हिंदुओं का बहुमत हो, उस देश पर शासन करने वाले मुसलमान शासकों को राजनैतिक प्रयोजनों के लिए अपने शासन में परिवर्तन करना पड़ा था। उच्च प्रशासनिक एवं सैन्य पदों पर कई हिंदू कार्यरत रहे, परंतु राजनीतिक एवं प्रशासनिक क्षेत्रों से ज्यादा सामाजिक व सांस्कृतिक क्षेत्रों में हिंदू-मुसलमानों के बीच सहयोग व समन्वय दिखाई देता है। धार्मिक क्षेत्रों में भी दोनों धर्मों के बीच सौहार्द बढानें में भक्ति एवं सूफी संतों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। सभी क्षेत्रों में हिंदू-मुसलमानों के मध्य सामंजस्य स्थापित हुआ। मुगल योद्धा बाबर ने जब 1526 में भारत में प्रवेश किया उस समय उसने यहाँ जिस संस्कृति को देखा था, उसको हिंदू और मुसलमानों के मिलन को सूचित करने वाली हिंदुस्तानी संस्कृति के रूप में वर्णित किया है। अकबर के समय में इसने अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त किया। मुगल बादशाह भी इस्लाम के अनुयायी थे, परंतु उनके अधीन रहने वाली अधिकांश जनता हिंदू थी। एक मजबूत शासन के लिए जरूरी था कि शासक व शासितों के बीच सामंजस्य तथा स्नेह बना रहे और वे शांति से मिल कर रहें। इस तथ्य को पूरी तरह समझ कर सम्राट अकबर ने अपने शासन में उसका अनुकरण किया और एक राष्ट्रीय शासक के रूप में देश को प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़ाया। मध्यकालीन शासन व्यवस्था, समकालीन इतिहास आदि की जानकारी दो महत्वपूर्ण विचारकों की रचनाओं से मिलती है, ज़ियाउद्दीन बरनी एवं अबुल फज़ल जिन्होंने अपने समय की शासन प्रणाली, प्रशासन प्रबंध व आर्थिक व्यवस्था का विषद वर्णन किया है।

आगे के पृष्ठों में इन दोनों मध्युगीन चिंतको के विचारों पर विस्तार से चर्चा की गई है।

4.3.3. ज़ियाउद्दीन बरनी (1285-1359)

ज़ियाउद्दीन बरनी को अनदेखा कर मध्यकालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक माहौल को समझा नहीं जा सकता। निःसंदेह, बरनी पूर्व मुगल काल के महत्वपूर्ण विचारक एवं लेखक रहे हैं, जिन्होंने शरियत के विचारों के प्रसार के साथ भारतीय संदर्भो के अनुरूप अपने नए सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। अपने पूर्ववर्ती व समकालीन विचारकों के विपरीत वह ऐसा पहला विचारक था, जिसने मुस्लिमों के बीच धर्म निरपेक्ष कानूनों को औचित्यपूर्ण तरीक़े से लागू

करने की सिफारिश की। भारतीय परिप्रेक्ष्य में मुस्लिम राजनीति को समझने और उसके औचित्य को सिद्ध करने की जो समझ बरनी के विचारों में मिलती है वो किसी और समकालीन विचारक में नहीं मिलती है। बरनी के समय इस्लामिक राज्य अपने शैशव काल में था और अपनी जड़ें जमाने की कोशिश कर रहा था। इस्लामिक आचरण जनसंख्या के एक छोटे भाग तक ही सीमित था इसलिए बरनी ने राजनीतिक दायित्व के निर्वाह हेतु इस्लामिक आधार को व्यापकता प्रदान करने का प्रयास किया। फतवा-ए-जहाँदारी वस्तुतः एक राजनीतिक आचार संहिता है जिसकी रचना बरनी ने मुस्लिम शासकों विशेषकर दिल्ली के सुल्तानों के पथ-प्रदर्शन के उद्देश्य से की थी। इस पुस्तक में उसने राज्य व्यवस्था से संबंधित नियमों व सिद्धांतों का वर्णन किया है। मोहम्मद हबीब ने फतवा-ए-जहाँदारी की महत्ता को दर्शाते हुए लिखा है - "यह ग्रंथ राजनीतिक सिद्धांत, राजनीतिक उद्देश्य की व्याख्या तो करता ही है, साथ ही उस काल में राजनीतिक दबाव वाले वर्ग का भी विवेचन करता है। राजनीतिक सिद्धांत के प्रति उसका ठोस योगदान यह है कि उसने शासन संबंधी संस्था की विवेचना इस्लामिक धर्म व सामाजिक आवश्यकता के अनुरूप की है, किंतु हिंदुओं के प्रति उसके दृष्टिकोण का भी सावधानीपूर्वक अध्ययन किया जाना चाहिए'।[3] ईश्वरी प्रसाद भी लिखते हैं- 'मध्यकालीन इतिहासकारों में बरनी ही अकेला ऐसा व्यक्ति है जो सत्य पर ज़ोर देता है और चाटुकारिता तथा मिथ्या-वर्णन से घृणा करता है।' [4]

बरनी के विचारों एवं उसकी राजनीतिक विशेषज्ञता पर चर्चा करने से पूर्व उसके जीवन काल एवं पारिवारिक पृष्ठभूमि के बारें में जानना रोचक व लाभदायक होगा।

4.3.3.1. जीवन काल **(Life Sketch)**

जियाउद्दीन बरनी का जन्म दिल्ली सल्तनत के गुलाम वंश के अंतिम शक्तिशाली शासक गयासुद्दीन के शासन काल में 1285-86 (684 हिजरी) में हुआ था। वे सैय्यदों के वंश से थे जो अपने समय में विद्वता एवं कुलीनता के लिए प्रसिद्ध थे, इन्होनें दिल्ली सल्तनत के तीन राजवंशों - इल्बरित, खिलजी और तुगलक वंश की सेवा की थी। उनके पिता, चाचा, दादा और नाना भी दिल्ली सल्तनत के उच्च पदों पर आसीन रहे थे। वे अपनी उच्चतम शिक्षा और संस्कृति के लिए जाने जाते थे। बरनी को अपने उच्च कुलीन परिवार पर गर्व था और बहुत हद तक उनके दृष्टिकोण की वजह उनका पारिवारिक परिवेश ही था।

बरनी की शिक्षा का उसके परिवार ने बेहतरीन प्रबंध किया था। उन्होंने खुद 46 शिक्षकों के नाम दिए है जिन्होनें बरनी को विभिन्न विषयों का ज्ञान दिया। बरनी ने अरबी, यूनानी

[3] हबीब, मुहम्मद, (1955), *खिलजी कालीन भारत (तारीखे फ़िरोज़शाही)*, अलीगढ़, इतिहास विभाग अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय

[4] नागोरी, एस. एल. और नागोरी, कांता, (2002), भारत के प्रमुख इतिहासकार, जयपुर, सबलाइम पब्लिकेशन्स, पृ. 42

राजनीतिक चिंतन, इस्लामिक इतिहास और धर्म का ज्ञान प्राप्त किया।[5] उम्र में कम होने के बावजूद बरनी अमीर खुसरो, अमीर हसन सीजज़ी जैसे इतिहासकारों की संगत में रहे और निज़ामुद्दीन औलिया के अनुयायी बन गए। इस प्रकार बरनी उच्च मुस्लिम कुलीन परिवार से संबंधित थे और जिस माहौल में वह पैदा हुए, पले-बढ़े उसने उनके दिल दिमाग में सामाजिक व राजनीतिक जीवन में मुस्लिम कुलीनता की श्रेष्ठता एवं महत्व के विचार को कूट-कूट कर भर दिया था। इसके साथ ही बरनी इस यूनानी मान्यता को बड़ी आसानी से स्वीकार करते थे कि कुछ लोग श्रेष्ठ है और शासन के लिए पैदा हुए है और कुछ लोग निम्न है एवं शासित होने योग्य होते हैं। बरनी मुहम्मद तुगलक़ का बड़ा विश्वासपात्र था और उसके कार्यकाल में बरनी को अत्यधिक आदर व सम्मान प्राप्त था, सुल्तान ने उसे अत्यधिक धन संपत्ति प्रदान किया था, वह सदैव बरनी से परामर्श लेता था।[6] 1351 में मुहम्मद बिन तुगलक़ की मृत्यु सिंध में हो गई जहाँ वह विद्रोह को कुचलने के लिए गया था। अपनी मृत्यु से पूर्व सुल्तान ने फिरोजशाह को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था।[7] फिरोजशाह ने बरनी से उसकी पदवी छीन ली और उसे कारावास में डाल दिया। हालाँकि उसे बाद में रिहा कर दिया गया, लेकिन उसकी संपत्ति ज़ब्त कर ली गई। अब न तो वह सुल्तान का विश्वासपात्र रहा और न ही राजसभा में उसे कोई मान सम्मान प्राप्त था। एक खुशहाल व्यक्ति अपनी जीवन की संध्या काल में भिखारी और जनता के तिरस्कार का पात्र बन गया। बरनी अपने दुर्भाग्य पर बहुत आक्रोश व्यक्त करता था। ऐसी स्थिति में बरनी ने अपने दरिद्र और अंतिम दिनों में 'फतवा-ए-जहाँदारी' और 'तारीख-ए-फिरोजशाही' जैसे ग्रंथों की रचना संवाद शैली में की जो मुख्यत: उनकी देखी सुनी स्मृति पर आधारित थी।[8] 1359 ई. में 74 वर्ष की आयु में बरनी की मृत्यु हो गई।

4.3.3.2. बरनी के विचारों का विकास एवं रचनाएँ

बरनी ने जिस तरह के विचार दिए है उनके विकास में कुछ महत्वपूर्ण तत्वों की भूमिका है जिनकी जानकारी से हम बरनी की रचनाओ एवं उसके विचारों का सही तरह से मूल्यांकन कर सकते हैं-

सर्वप्रथम, बरनी जिस काल में अपने विचार व्यक्त करता है उस समय इस्लाम भारत में अपने पैर ज़माने की कोशिश कर रहा था। यह नए शासकों का धर्म था परंतु आम भारतीय जनता का धर्म उसके विपरीत था। दूसरी तरफ, इस काल में बहुत से स्थानीय धर्मों के विरुद्ध

---

[5] रिज़वी, सैय्यद अतहर अब्बास, (1956), *आदि तुर्ककालीन भारत*, अलीगढ़, इतिहास विभाग अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, पृ. 101

[6] कुमार, सुनील, (2016), 'ज़ियाउद्दीन बरनी', अजय कुमार और इस्लाम अली (सं.), *भारतीय राजनीतिक चिंतन : संकल्पनाएं एवं विचारक*, दिल्ली, पिएर्सन, पृ. 146

[7] पांडे, ए.बी., (1960), अर्ली मिडीवल इन्डिया, इलाहाबाद, पृ. 207

[8] हबीब, मोहम्मद, (1961), दिल्ली सल्तनत का राजनीतिक सिद्धान्त, दिल्ली, ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, पृ. 9

विभिन्न प्रतिक्रियाएँ हो रही थी, खासकर ब्राह्मणवाद के प्रति जिसने शासकों तथा विचारकों को अपने अधिकार में ले रखा था। बरनी के लेखन में इस प्रकार के विचार मिलते हैं, जिससे यह प्रतीत होता है की बरनी ने भी स्वयं को इस वाद-विवाद में गहरे रूप से शामिल कर लिया था। द्वितीय, बरनी ने इस्लामिक शासन प्रणाली को दार्शनिक आधार प्रदान करने का प्रयास किया। उसकी लेखनी में हम विभिन्न संदर्भों को पाते हैं, जिनका संबंध अरब, पर्सियन के साथ-साथ अरस्तु से भी है, जिसके आधार पर बरनी ने न्यायपूर्ण सरकार का तर्कपूर्ण समर्थन प्रस्तुत किया।[9]

बरनी न केवल इस बात का गवाह था कि किस प्रकार विभिन्न सुल्तानों ने सल्तनत को धार्मिक आत्मविश्वास और मसीही ज़ोश के साथ स्थापित किया था, बल्कि वह स्वयं इस्लाम को ताकत के द्वारा स्थापित करने की हिमायत करता है। आमतौर पर यदि देखा जाय तो उसके सरकार के सिद्धांत केवल मुस्लिम समाज से संबंधित थे फिर भी राजनीतिक दर्शन के दृष्टिकोण से उसके कुछ सिद्धांत महान प्रकृति के हैं। इन सिद्धांतों में दो प्रमुख हैं- न्याय का विचार एवं आधुनिकता का विचार, जिनका सीधा संबंध अरस्तु के विचारों से है। बरनी शरीयत को भी बहुत महत्व देता है और खुदा को सभी विचारों व विश्वासों का स्रोत मानता है। यह कहा जा सकता है कि जहाँ अरस्तु ने राज्य को प्राकृतिक और अच्छा माना है वहीं बरनी इस बात के समर्थन के साथ इसे आवश्यक रूप से इस्लामिक राज्य माना है। वास्तव में बरनी ने अरस्तु के विचारों का इस्लामीकरण कर दिया था।[10]

बरनी को अपने पूर्वजों पर बड़ा गर्व था। उसका अपने समकालीन सूफी संतों, कवियों, इतिहासकारों, लेखकों व तेजस्वी विद्वानों से बड़ा घनिष्ठ संबंध रहा। उसकी अपने समकालीन सैयदों, आलिमों और सूफियों की गोष्ठियों में भी अभिरुचि थी। वह शेख निज़ामुद्दीन औलिया का तो भक्त था ही, किंतु साथ ही अन्य सूफियों से भी काफी प्रभावित था। ऐसे विद्वानों की संगति ने बरनी के विचारों पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला और उसमें उदारवाद के आधुनिक सिद्धांतों के प्रति आस्था को बढ़ावा मिला। इन सबके बावजूद बरनी के इस्लामिक जीवन, धर्म तथा इस्लामिक सभ्यता के आध्यात्मिक प्रतीकों पर उनका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। बरनी के विचारों में राजनीतिक उदारवाद तथा मुस्लिम कट्टरता का एक असंगत-सा समावेश दिखाई पड़ता है। बरनी की मान्यता थी कि सल्तनत का आधार धर्म या मज़हब होना चाहिए। इसलिए शासन व्यवस्था को मजबूत करने के लिए शरीयत और ज़वाबित दोनों प्रकार के कानूनों की सराहना की। बरनी ने अनेक पुस्तकें व लेख लिखे हैं, जिनमें मध्यकालीन सामाजिक व राजनीतिक जीवन के विषय

[9] मेहता, वी. आर., (2008), फाउंडेशन ऑफ इंडियन पॉलिटिकल थॉट, दिल्ली, मनोहर पब्लिशर्स, पृ. 138-139

[10] कुमार, सुनील, (2016), 'ज़ियाउद्दीन बरनी', अजय कुमार और इस्लाम अली (सं.), *भारतीय राजनीतिक चिंतन : संकल्पनाएं एवं विचारक*, दिल्ली, पिएर्सन, पृ. 148

में विस्तार से वर्णन किया गया है। बरनी की प्रसिद्ध पुस्तकों में सना-ए-मोहम्मदी; सलात-ए-कबीर; इनायतनामा-ए-इलाही; मआसिर-ए-सादात; हसरत नामा; तारीख़-ए-बरमकियान; फतवा-ए-जहाँदारी और तारीख-ए-फिरोजशाही हैं।

बरनी की इन पुस्तकों में से कुछ वर्तमान में उपलब्ध नहीं है, लेकिन उनकी प्रमुख दो पुस्तकें फतवा-ए-जहाँदारी और तारीख-ए-फिरोजशाही मौजूद है, जिसमें सल्तनत काल की सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का स्पष्ट वर्णन किया गया है। बरनी की ये दोनों रचनाएँ राजनीतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से अमूल्य हैं। यह रचनाएँ उस समय के शासक वर्ग की आकांक्षाओं और विचारों के साथ आम जनता की सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों पर भी रोशनी डालती हैं। बरनी ने संस्थाओं और प्रत्येक व्यक्ति के कर्तव्यों व कार्यों का आलोचनात्मक मूल्यांकन के साथ ही सुल्तान और उसके वजीरों को शासन के संचालन की कला का ज्ञान दिया। बरनी ने अपने दरिद्र और अंतिम दिनों में फतवा-ए-जहाँदारी और तारीख-ए-फिरोजशाही जैसे ग्रंथों की रचना की, जो केवल उसकी देखी सुनी स्मृति पर आधारित थी इसीलिए कहीं-कहीं अनजाने में कल्पना और तथ्यों का सम्मिश्रण भी होता दिखाई देता है। यद्यपि तारीख-ए-फिरोजशाही में सल्तनत काल के एकतंत्रात्मक शासन की कार्य प्रणाली व राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्था, जिसमें राज्य और शासन के शीर्ष पर बादशाह है, पर गंभीर और आलोचनात्मक दृष्टिकोण के साथ राजनीतिक दर्शन का पर्याप्त सैद्धांतीकरण भी बरनी की इन रचनाओं में मिलता है। बरनी के राज्य व आदर्श सुल्तान की अवधारणा का सैद्धांतीकरण मध्ययुग में राजनीतिक विचारों की विशेषता के कारण स्मरणीय है। फतवा-ए-जहाँदारी का प्रमुख ज़ोर सुल्तान को कुछ ऐसी नसीहतें देना लगता है जो उसके व्यक्तिगत जीवन और शासकीय स्वरूप को मार्गदर्शन दें। इन नसीहतों के माध्यम से बरनी ने आदर्श सुल्तान के सिद्धांत का प्रतिपादन किया, साथ ही मध्ययुग में प्रचलित राज्य शासन के अन्य पक्षों पर भी विचार व्यक्त किए। बरनी मध्यकाल में प्रचलित स्थितियों की जानकारी और उनके सैद्धांतीकरण का यथार्थ तथा प्रमाणिक स्रोत सिद्ध होता है। भारतीय राजनीतिक विचारों को बरनी की विशिष्ट देन है। कुरान और शरीयत के उपदेशों पर आधारित इस्लामी राज्य के आधार तथा कार्य की व्याख्या मात्र ही नहीं, अपितु वह भारत के मध्यकाल में काफी समय से इस्लामी राज्य व प्रशासन में आ रहे परिवर्तनों का भी कुशलता से वर्णन करता है।

4.3.3.3. बरनी के राजनीतिक सिद्धांत

बरनी केवल मध्ययुगीन सामंती शासन व्यवस्था का सिद्धांतकार ही नहीं, बल्कि वह भारत में मुस्लिम साम्राज्य का प्रवक्ता भी था। उसके राजनीतिक सिद्धांत के तीन प्रमुख लक्ष्य थे-

1. साम्राज्य के संगठन को अत्यंत सुदृढ़ कैसे बनाया जाए?
2. राज्य शक्ति को जनहित में कैसे लगाया जाए?
3. राज शक्ति के लिए वैधता और लोकप्रियता कैसे प्राप्त की जाए?

वास्तव में दिल्ली सल्तनत के काल में मुस्लिम शासक वर्ग के सदस्यों की संख्या बहुत थोड़ी थी, जबकि शासित वर्ग हिंदुओं की संख्या बहुत विशाल थी, ऐसी स्थिति में उपर्युक्त लक्ष्यों की पूर्ति सचमुच अत्यंत कठिन थी। बरनी ने अपनी विशिष्ट सोच समझ से इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए विस्तृत सुझाव सुल्तान को अपनी पुस्तक फतवा-ए-जहाँदारी में दिए हैं।

इस्लामी राज्य न तो पूर्णतया लोकतांत्रिक था, न ही धर्म तंत्र क्योंकि इसमें संप्रभुता जनता में निवास नहीं करती थी और न ही संप्रभुता अथवा शासन सत्ता एक विशिष्ट धार्मिक वर्ग समुदाय में निवास करती थी, जो स्वयं को खुदा का प्रतिनिधि कहता हो। वास्तविक रूप से इस राज्य में अल्लाह की पुस्तक अर्थात् कुरान ही संप्रभु होती है तथा संपूर्ण प्रशासन और न्याय व्यवस्था कुरान में लिखित विधि अथवा शरीयत के आधार पर चलाए जाते हैं और केवल उन्हीं क्षेत्रों में मुस्लिम जनसमुदाय मतैक्य के आधार पर निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र होता हैं जहाँ कुरान में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं है। मुस्लिम शासकों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह इस्लाम के एजेंट के रूप में कार्य करेंगे और उसके प्रचार तथा प्रसार को प्रोत्साहित करेंगे। शासकों के इन कार्यों की व्याख्या और समीक्षा के लिए किसी धार्मिक अथवा राजनीतिक संस्था के अभाव में यह शासकों की स्वेच्छा पर निर्भर था कि वह इन कर्तव्यों की पूर्ति किस प्रकार करते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय तथ्य है कि कुरान में किसी विशेष प्रकार के राज्य की व्यवस्था नहीं की गई है और न ही कोई व्यवस्थित राजनीतिक निर्देश दिए गए हैं। कुरान में केवल तीन सामान्य सिद्धांतों का संकेत मिलता है, जिन पर विश्वास करना सभी सच्चे मुसलमानों के लिए आवश्यक माना जाता है -

1. जनता पर न्याय संगत शासन करो।
2. अपने कार्यों को सलाह मशवरा लेकर पूरा करो।
3. अल्लाह की आज्ञा को पूरा करो, पैगंबर की आज्ञा मानो और अपने से बड़े लोगों की आज्ञा का पालन करो।[11]

कुरान के इन सिद्धांतों में किसी विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग का उल्लेख नहीं मिलता है। अंततः शरीयत में बताए गए कानून ही इस्लामी राजनीति का आधार है। बरनी ने धर्म का इस्तेमाल राज्य के राजनीतिक तथा मुस्लिम शासक वर्ग के हितों के लिए किया। फिर भी उसने राजनीतिक क्षेत्र में जवाबित अर्थात् राज्य निर्मित कानून के निर्माण पर बल दिया और निजी मामले में गैर शरियत आचरण को भी स्वीकृति प्रदान की। उसके लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण लक्ष्य राज्य की शक्ति को मजबूत करना था, चाहे वह किसी भी साधन से हो। बरनी ने तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए उसी के अनुसार अपने राजनीतिक विचार प्रकट किए। चूँकि इस्लामी आचरण जनसंख्या के एक छोटे भाग तक ही सीमित था अतः बरनी ने यह आवश्यक समझा

[11] मेहता, वी. आर., पुर्वोक्त, पृ. 137

कि राजतंत्र के प्रति राजनीतिक दायित्वों के निर्वाह के लिए इस्लाम के आधार को व्यापक बनाया जाए। वास्तव में बरनी शरीयत पर आधारित व्यावहारिक शासन पद्धति को प्राथमिकता देते थे, क्योंकि इसी शासन पद्धति को वह संभव तथा वांछनीय मानते थे। उनका यह वैचारिक रुख उनकी मुस्लिम कट्टरता को आधुनिक रूप प्रदान करता है।

प्रचलित दिल्ली सल्तनत की विचारधारा से हटकर बरनी ने दैवीयता पर आधारित इस्लामिक प्रभुता की बजाय सुल्तान की प्रभुसत्ता की बात की थी। वास्तव में बरनी के राजनीतिक चिंतन का लक्ष्य सुल्तान था, इस्लाम नहीं। उन की अवधारणा का सुल्तान न तो कोई महामानव और न ही ईश्वर का कोई देवदूत या प्रतिनिधि था। बरनी की सर्वप्रभुत्वसंपन्न सुल्तान की व्याख्या न केवल भारतीय राजनीतिक विचारधारा के अनुकूल थी, बल्कि उनके समय की वास्तविकता पर आधारित थी।

4.3.3.4. आदर्श शासक के विषय में बरनी के विचार

बरनी अपने आदर्श शासक के विषय में विचार प्रकट करते हुए कुछ महत्वपूर्ण उपदेश देता है और उसकी स्पष्टता के लिए इतिहास की घटनाओं के उदाहरण हमारे सामने प्रस्तुत करता हैं। चूँकि बरनी एक कट्टर मुसलमान था इसलिए उसकी दृष्टि में जो सुल्तान काफिरों का विनाश करता था, वही आदर्श था। बरनी ने बादशाहत को आवश्यक समझा है और वह मानता है कि इसके बिना सामाजिक व्यवस्था बर्बाद हो जाएगी। बरनी का मानना था कि वास्तविक शासक तो स्वयं ईश्वर है और सांसारिक बादशाह 'ईश्वर की छाया' है, जिन्हें राज्य व्यवस्था के संचालन के लिए ईश्वर के गुणों का अनुसरण करना चाहिए। बादशाही अपने आप में संपूर्ण प्रभुत्व होने का नाम है चाहे यह अधिकार किसी निश्चित सिद्धांत से मिल जाए या फिर किसी पर विजय प्राप्त करके। बादशाही के विषय में बरनी आगे लिखता है कि बादशाही उसी समय तक स्थापित रह सकती है जब तक कि बादशाह पर लोगों को विश्वास हो। अतः बरनी का बादशाह एक वैधता प्राप्त शासक है। बरनी सुल्तान के विरुद्ध विद्रोह को गुनाह मानता है और कहता है कि विद्रोही गुनाहगार है।[12]

बरनी का मानना है कि एक आदर्श बादशाह को सत्य का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। बरनी का मानना था कि बादशाह के सभी गुण अन्य मनुष्यों से उत्तम होने चाहिए। उसे साहसी होना चाहिए, साहसहीन बादशाह शासन के योग्य नहीं होता है। राज्य व्यवस्था में शासक को इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि वह सर्वसाधारण की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। बादशाह को सदैव कपटी और धूर्तों से सावधान रहना चाहिए। बादशाह की सफलता की परीक्षा यह है कि उसके शासनकाल में शरीयत की आज्ञाओं का पालन होने लगे। आदर्श शासक धर्म रक्षक एवं धर्मपालक होगा तथा इस बात का ध्यान रखेगा कि जनता में उन बातों का पालन

[12] रिज़वी, सय्यद अतहर अब्बास, पुर्वोक्त, पृ. 110

अवश्य हो जिनके पालन का शरीयत में आदेश दिया गया है और उन बातों को करने की इजाजत नहीं देना चाहिए जो शरीयत में निषिद्ध है। मैक्यावली के समान ही बरनी भी इस बात को कहता है कि भय और ताकत सुल्तान के अधिकारों का हिस्सा है, परंतु बरनी के अनुसार सुल्तान को क्रूरता का प्रतीक नहीं होना चाहिए बल्कि परोपकार का प्रतीक होना चाहिए। उसे अपने अधिकारों का प्रयोग तो करना चाहिए, लेकिन अपनी जनता की तरफ बहुत सख्त नहीं होना चाहिए। जब सुल्तान अपनी जनता को जरूरत से ज्यादा खुश करने की कोशिश करता है तो राज्य अपमानित होता है और दूसरी तरफ अगर वह अपनी जनता के प्रति बहुत ज्यादा सख्त है तो जनता उससे घृणा करने लगेगी। सुल्तान को आतंक ऐश्वर्य तथा वैभव का प्रदर्शन करते हुए सहृदयता, दया और कृपा का व्यवहार करना चाहिए। सुल्तान को दानी, दयालु, संतुलित और संयमित होने के साथ बहादुर, महत्वाकांक्षी, अकलमंद, दृढ़संकल्पी और न्याय प्रिय होना चाहिए। बरनी वंशानुगत एवं कुलीनता के सिद्धांत का समर्थन करता है और मानता है कि सुल्तान में खानदानी खून होना चाहिए, उसको अपने सहयोगियो में प्रतिष्ठा, ताकत और वर्ग के आधार पर श्रेष्ठ होना चाहिए।[13] बरनी का आदर्श बादशाह प्रभुत्व संपन्न है, प्रभुत्व के कारण ही वह बादशाह कहलाता है। बादशाह और प्रभुत्व संबंधी बरनी के विचारों में हमें आधुनिक सार्वभौमिकता के दर्शन होते हैं। संप्रभुता बादशाही का सबसे बड़ा गुण होता है।[14]

4.3.3.5. राज्य के कानून, न्याय व दंड के विषय में बरनी के विचार

बरनी के अनुसार सुल्तान के दो प्रमुख उद्देश्य होने चाहिए प्रशासन और जनता का कल्याण। इन उद्देश्यों की प्राप्ति करने के लिए राजा को जवाबित या राज्य के कानून बनाने चाहिए। बरनी की मान्यता थी कि दिव्य कानून या शरियत के साथ-साथ राज्य निर्मित कानून का सहारा लेना इसलिए जरूरी है, ताकि इन दोनों के बल पर सल्तनत को सुदृढ़ बनाने के लक्ष्य की सिद्धि की जा सके। एक यथार्थवादी होने के नाते बरनी ने यह स्वीकार किया है कि राजनीतिक क्षेत्र में शरीयत को परम साध्य न मानते हुए राजनीतिक उद्देश्य की सिद्धि का साधन ही माना जाए, इसलिए वह सुल्तान को यह इजाज़त देता है कि वह अपने हालात एवं समय के अनुसार कानून का निर्माण और क्रियान्वयन करे। शरियत और जवाबित में अंतर करते हुए बरनी लिखता है कि शरियत उन शिक्षाओं और प्रथाओं का समुच्चय है जो पैगंबर हजरत मुहम्मद और परम पावन खलीफाओं की देन है, परंतु परिस्थितियाँ बदल जाने पर जो नई जरूरतें समाज में पैदा हो जाती हैं, उन्हें पूरा करने के लिए सुल्तान अपने यहाँ के कुलीन वर्ग से

[13] हबीब, मोहम्मद और खान, अफसर उमर सलीम, (1997), द पॉलिटिकल थ्योरी ऑफ द देल्ही सल्तनत, इलाहाबाद, किताब महल, पृ. 42

[14] नागोरी, एस. एल. और नागोरी, कांता, पुर्वोक्त, पृ. 53

परामर्श करके जो कानून बनाता है, उन्हें जवाबित की संज्ञा दी जाती है।[15] व्यक्तिगत तथा राजनीतिक क्षेत्र में कानून के आचरण में शिथिलता उस सीमा तक स्वीकार्य थी जहाँ तक कि राज्य की स्थिरता पर बुरा असर न पड़े। वैसे सुल्तान, कुलीन वर्ग और विभिन्न श्रेणियों के प्रशासकों के लिए उत्तम तो यह होगा कि वह अपने व्यक्तिगत जीवन में और सार्वजनिक नीतियों का निर्माण करते समय शरीयत का ही अनुसरण करें, परंतु जहाँ शरियत लागू करने की गुंजाइश न हो वहाँ पर राज्य निर्मित कानून की जरूरत पैदा हो जाती है, ऐसे कानून बनाते समय विशेष सावधानी रखना जरूरी है यह सावधानियाँ इस प्रकार हैं-

1. जवाबित की कोई व्यवस्था शरीयत के विरुद्ध नहीं होनी चाहिए
2. इसकी व्यवस्थाएँ ऐसी होनी चाहिए कि जो कुलीन वर्ग और जनसाधारण के मन में सुल्तान के प्रति निष्ठा को बढ़ा सकें और नई आशा जगा सके।
3. इसकी प्रेरणा के स्रोत स्वयं शरीयत और परमपावन खलीफा होने चाहिए।
4. यदि किसी व्यवस्था के कारण राज्य को शरीयत के विरुद्ध कोई कानून बनाना पड़े तो वह परोपकार की भावना से प्रेरित होना चाहिए और जहाँ कहीं शरीयत का उल्लंघन हुआ हो उसकी उपयुक्त क्षतिपूर्ति कर देना चाहिए।

बरनी ने स्वीकार किया कि राज्य का संचालन एक विशिष्ट व विस्तृत कार्य है। यह संभव है कि राज्य केवल दिव्य कानून का सहारा लेकर इस कार्य को संपन्न कराने में असमर्थ हो जाए, ऐसे हालात में राज्य निर्मित कानून की जरूरत पैदा हो जाती है।

बरनी ने कहा है कि बादशाहों को समझना चाहिए कि महान कार्य बिना कानूनों के संपन्न नहीं हो सकते। राज्य व्यवस्था का परम उद्देश्य वर्तमान का उपचार और भविष्य के लिए भलाई करना है, अतः राज्य के नियम ऐसे हो जिनसे न्याय में वृद्धि होती हो। नियमों के प्रयोग और उनकी दृढ़ता के बिना राज व्यवस्था के कार्यों में बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। बादशाह को राज्य संबंधी सभी कार्यों में काफी सोच विचार और वाद विवाद के बाद ही निर्णय लेना चाहिए। बादशाह यह देखें कि कानूनों में कोई बात सुन्नत विरुद्ध न हो और इसका आचरण करने से अविश्वासी लोगों का भला न होता हो। अधिनियम निर्माताओं को पूर्ण बुद्धिमान, योग्य तथा अनुभवी होना चाहिए, उन्हें पिछले सुल्तानों के कानूनों से परिचित होना चाहिए। बरनी अपने बादशाह को परामर्श देता है कि उसे न्याय प्रिय होना चाहिए और न केवल वह स्वयं न्याय के रास्ते पर चले, बल्कि अपनी प्रजा को भी सही रास्ता अपनाने की प्रेरणा अवश्य दे। बादशाह के लिए यह आवश्यक है कि उसे पता हो कि न्याय क्या है? इसके साथ ही उसे स्वाभाविक या प्राकृतिक न्याय की पहचान भी होना चाहिए, क्योंकि शासन संबंधी कार्यों में न्याय से बढ़कर

[15] हबीबुल्ला, ए.बी.एम्., (1976), द फाउंडेशन ऑफ मुस्लिम रुल इन इन्डिया, इलाहाबाद, सेन्ट्रल बुक डिपोट, पृ. 224-226

और कोई कार्य नहीं है। बादशाह को न केवल अपनी प्रजा के प्रति न्याय करते समय, बल्कि अपने सगे-संबंधियों और मित्रों के विषय में न्याय करते समय भी बहुत सावधान रहना चाहिए। बरनी लिखता है कि बादशाह में न्याय करने की योग्यता स्वाभाविक रूप से होनी चाहिए। बादशाह को न केवल राजधानी बल्कि रियासतों और कस्बों में भी न्याय तथा कानून की सुव्यवस्था का ध्यान रखना चाहिए। बरनी लिखता है कि 'बादशाही का अनिवार्य गुण न्याय हैं'।[16] सुल्तान को अपने अफसरों और रिश्तेदारों के सामने आदर्श के रूप में प्रस्तुत होना चाहिए। अगर वह न्याय संगत होगा तो उसके अफसर उससे प्रेरित होकर अपने पदों का दुरूपयोग नहीं करेंगे। एक राजा न्याय संगत तभी हो सकता है जब देश में कहीं भी अन्याय नहीं रहेगा और अत्याचारियों को उखाड़ फेंका जाएगा। जब राजा और उसके अफसर न्याय प्रिय होंगे तो देश में कोई विपत्ति नहीं आएगी और ईश्वर भी मदद करेगा।

बरनी आगे कहता है कि अपराध एवं दंड किसी भी राजव्यवस्था के अभिन्न अंग होते हैं, अतः दूरदर्शी बादशाह को किसी अपराधी को उचित एवं समय पर दण्डित करना चाहिए। न्यायाधिकारियों की नियुक्ति करनी चाहिए तथा क्षमा एवं दंड के नियमों को समझना चाहिए। कृपा, प्रोत्साहन, दान, कठोर दंड, अपमान, धन-संपत्तियों का हरण आदि उपायों से सुव्यवस्था स्थापित होती है, ये प्रजा के प्रति बादशाह के व्यवहार के तरीक़े होने चाहिए। सुल्तान के विरुद्ध अपराध करने वालों को कठोर दंड देना चाहिए, ताकि दूसरों को भी उससे सबक मिल सके।[17]

4.3.3.6. प्रशासन व सेना संबंधी विचार

सुल्तान को प्रशासनिक कार्यों में सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद होगी। बरनी ने सुल्तानों को यह सुझाव दिया है कि उसे निर्णय लेते समय एवं कानून बनाते समय मंत्रिपरिषद की सलाह लेनी चाहिए। सुल्तान के पास शाही सलाहकार समिति (मजलिस-ए-राय) होना चाहिए, जिसमें एक वजीर तथा अन्य परामर्शदाता होने चाहिए। सुल्तान को वजीर का चयन बहुत ही सोच समझकर करना चाहिए, क्योंकि एक बुद्धिमान वजीर बादशाह का सबसे बड़ा सहयोगी होता है। किसी भी व्यक्ति को वजीर का पद तब तक नहीं दिया जाना चाहिए जब तक शासन के उच्च स्तरीय लोग और आम जनता उसकी अकलमंदी के मामले में एक मत न हो। बरनी ने अच्छे परामर्शदाता के गुणों का वर्णन किया है- शाही सलाहकार परिषद के सदस्यों में खौफे खुदा होना चाहिए, उन्हें प्राचीन सुल्तानों की नीतियों की जानकारी तथा वर्तमान राज्य का वास्तविक ज्ञान होना चाहिए। सलाहकारों एवं मंत्रियों में परिपक्व बुद्धिमता के साथ-साथ चरित्र जाँचने की क्षमता, आत्मसम्मान, सही निर्णय लेने की क्षमता और सुल्तान के प्रति पूर्ण निष्ठा का भाव होना चाहिए। सुल्तान सलाह के बारे में सावधान रहें। राज्य सरकार को चलाने के लिए सारे

[16] हबीब, मोहम्मद, पूर्वोक्त, पृ. 49-50

[17] हबीब, इरफ़ान, (1980), 'बरनी'स थ्योरी ऑफ द हिस्ट्री ऑफ द देल्ली सल्तनत', *इंडियन हिस्टोरिकल रिव्यु*, वॉल्यूम VII, न. 1, जुलाई, पृ. 113

सलाहकारों को बिना किसी डर के अपनी सलाह देनी चाहिए और शाही सलाहकार परिषद में अपने विचारों को स्पष्ट तौर पर अभिव्यक्त करना चाहिए। कोई भी निर्णय सर्वसम्मति से लिया जाना चाहिए। सलाहकारों का पद स्थायी होना चाहिए और अपने ज्ञान अनुभव और दर्जे में उन्हें सुल्तान के सामने समान होना चाहिए। राज्य के प्रशासनिक कार्यों की पूर्ति के लिए योग्य, ईमानदार एवं कर्तव्यनिष्ठ अफसरों की नियुक्ति बादशाह के द्वारा की जानी चाहिए।

इसके अतिरिक्त बरनी ने सेना को काफी महत्व दिया है। उसके अनुसार सेना बादशाहत का मूल आधार है। बरनी का दृष्टिकोण था- 'बादशाहत सेना है और सेना ही बादशाहत है'। बरनी मानता था कि राजशाही के दो प्रमुख स्तंभ होते हैं- पहला स्वशासन और दूसरा विजय। इन दोनों को प्राप्त करने के लिए सुदृढ़ सेना की आवश्यकता होती है। एक विशाल और सुदृढ़ सेना के बिना राज्य के कामकाज चलाने में मुश्किल होती है- जैसे राज्य व बादशाह की सुरक्षा, शासन के सुचारु संचालन, नियंत्रण स्थापित करने, विद्रोह को दबाने, प्रतिद्वंदियों के इरादों को रोकने, धर्म के दुश्मनों को उखाड़ फेंकने और सही धर्म का गौरव स्थापित करने में सेना की जरूरत होती है। सुल्तान का अस्तित्व पूरी तरह से सेना के अस्तित्व पर निर्भर करता है, इसलिए सेना को सुल्तान के प्रति समर्पित होना चाहिए। बादशाह भी सेना को संतुष्ट रखने का प्रयास करें, क्योंकि सेना जितनी संतुष्ट होगी उतनी ही राजशाही सुसंचालित होगी। एक संतुष्ट और सही हथियारों से लैस सेना किसी भी खजाने में जमा धन से ज्यादा महत्वपूर्ण होती है। सुल्तान को सेना की बेहतरी और संतुष्टि के लिए बेहिचक धन खर्च करना चाहिए। सुल्तान को योग्य, सक्षम और उच्च वर्ग के अफसर सेना में शामिल करने चाहिए और यह पता करते रहना चाहिए कि सैनिकों के वेतन और अस्त्र-शस्त्रों पर कितना खर्च हो रहा है और उसके सैनिक तथा उनके परिवार कितने संतुष्ट हैं। बरनी बादशाह को यह सलाह देता है कि किसी भी हालत में सेना को निष्क्रिय न रखा जाए, जब युद्ध की स्थिति न हो उनसे कर वसूली, जंगल कटवाने, शिकार करने जैसे कार्य करवाने चाहिए।[18] बरनी सुल्तान को यह सलाह देता है कि वह अपनी सेना को संतुष्ट रखें और उसका इस्तेमाल न केवल शासन को बढ़ाने, उसके रखरखाव करने के लिए करें, बल्कि देश के आर्थिक विकास के लिए उन से युद्ध के अलावा दूसरा काम भी ले।

4.3.3.7. आर्थिक व्यवस्था के विषय में बरनी के विचार

कौटिल्य की तरह बरनी भी सुल्तान को यह सलाह देता है कि उसे अर्थव्यवस्था के विकास के लिए कार्य करना चाहिए। अर्थव्यवस्था को इस तरह नियंत्रित करना चाहिए, जिससे राज्य में संतोष फैले, किसी भी राज्य के विकास के लिए एक सफल अर्थव्यवस्था का होना अत्यंत आवश्यक होता है। बरनी की मान्यता थी कि बादशाह को राज्य कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए करो में वृद्धि करने, नए कर लगाने तथा उनकी वसूली का असीमित अधिकार

[18] कुरैशी, आई. एच., (1979), द एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ द सल्तनत ऑफ देल्ही, पटना, ओरिएंटल बुक, पृ. 141-142

प्राप्त होना चाहिए। सरकारी राजकोष पर सुल्तान का ही नियंत्रण होना चाहिए। बरनी का परामर्श है कि सुल्तान को राज्य की आमदनी में वृद्धि के लिए प्रयास करने चाहिए राजकोष की वृद्धि के लिए सुल्तान को नए कर लगाना चाहिए और उनकी वसूली के लिए उचित व्यवस्था करनी चाहिए और राज्य के करो की वसूली में आनाकानी करने पर वह सुल्तान को शक्ति से बर्ताव करने का सुझाव देता है। राज्य की सुरक्षा सेवाओं के विस्तार और उन्हें पूर्ण रूप से अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित रखने के लिए भी सुल्तान को आवश्यकतानुसार राजकोष से धन लेने की छूट होनी चाहिए। बरनी कहता है कि सुल्तान को राज्य के आर्थिक विकास के लिए कठिन प्रयास करने चाहिए। बाज़ार व्यवस्था अच्छी होनी चाहिए तथा मूल्य नियंत्रण का प्रबंध करना चाहिए। बादशाह को सदैव बाजार भाव स्थिर रखने का प्रयास करना चाहिए।

वस्तु की कीमत को नियंत्रित रखने के लिए सुल्तान को राजदरबार में उत्पादन मूल्यों के सिद्धांत के अनुसार वस्तुओं की कीमत निर्धारित कर देनी चाहिए, मूल्य निर्धारण का काम उसे दुकानदारों पर नहीं छोड़ना चाहिए। उसे यह भी ख्याल रखना चाहिए कि वस्तुओं का मूल्य राजधानी और बाकी प्रांतों में एक ही हो, इसके लिए उसे विभिन्न कर्मचारियों की नियुक्ति करनी चाहिए तथा नगर कोतवालों को इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए। बरनी कहता है कि चोरबाजारी और जमाखोरी तथा दाम को बहुत बड़ा देना पाप है। अतः बादशाह को लेन-देन के बाजार में कानून लागू करने चाहिए, धोखेबाज और झूठे वादे करने वालों, गलत मालों के विक्रेता और ठगों को दंडित करना चाहिए।[19] बरनी ने मूल्य नियंत्रण और कम कीमत के फायदे भी गिनवाए हैं। वह कहता है कि इससे सेना स्वस्थ, सुसज्जित और स्थिर बनी रहेगी। सुल्तान की प्रसिद्धि सुनकर दुनिया भर से व्यापारी और शिल्पकार उसकी राजधानी में रहने के लिए लालायित होंगे। प्रजा की संपन्नता और सेना की विशालता के रहते कोई भी शत्रु राज्य पर आक्रमण करने का दुस्साहस नहीं करेगा। गरीबों के जीवन निर्वाह की वस्तुओं की कीमत कम होने की वजह से सुल्तान की प्रसिद्धि बढ़ेगी और लोग उसे सदियों तक याद रखेंगे। चारों तरफ अच्छाई, शांति और ईश्वर का आशीर्वाद फैलेगा। ऊँची कीमत की वजह से बुराई गुस्सा और ईर्ष्या फैलती है, लोग दुखी होते हैं, परिणाम स्वरूप विद्रोह एवं अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अतः सुल्तान को वस्तु की कीमत पर नियंत्रण रखना चाहिए, इससे राजकोष में वृद्धि होगी।

कर निर्धारण के समय भी वह बादशाह को उचित तरीके से कर निर्धारित करने का सुझाव देता है। उसका कहना है कि यदि करदाताओं की क्षमता के अनुसार कर निर्धारित होगा तो लोग स्वेच्छा से कर अदा कर देंगे। साथ ही बरनी अपनी बादशाहत को यह सलाह देता है कि उसे अकाल के समय करों में कटौती करनी चाहिए और खिराज व जजिया कर नहीं लेना

[19] हबीब, इरफ़ान, (1995), एसेज इन इंडियन हिस्ट्री, नई दिल्ली, तूलिका प्रकाशन, पृ. 151

चाहिए तथा शाही खजाने से पीड़ित जनता की मदद करनी चाहिए। बरनी कहता है कि ईश्वर द्वारा बादशाहत संस्थान की स्थापना का उद्देश्य यह है कि वह गरीबों के सुख सुविधा का ध्यान रखें और उनकी मदद और सुरक्षा करने का प्रयास करें। बरनी कहता है कि एक सफल बादशाह वही है जो एक सुरक्षित और मजबूत शासन व्यवस्था के साथ-साथ आर्थिक रूप से भी अपने राज्य के विकास की संपूर्ण व्यवस्था को कार्यान्वित करता है।

4.3.3.8. हिंदू और मुस्लिम श्रमिक व निम्नवर्ग के प्रति बरनी के विचार

बरनी का दृष्टिकोण को हिंदू धर्म के प्रति कट्टर था। उसने हिंदू धर्म को झूठा पंथ कहा और उसके खिलाफ जूझने के लिए बादशाह को सलाह दी। उसने सख्त कानून बना कर हिंदुओं पर कर लगाने तथा उनके ब्राह्मण नेताओं का अंत करने की सलाह बादशाह को देता था। बरनी ने कहा कि सुल्तान को हिंदुओं पर ज्यादा कर लगाना चाहिए, क्योंकि हिंदुओं के रईस या राजा भी अपनी जाति के लोगों से जजिया और खिराज लेते थे। मुस्लिम राजाओं को हिंदुओं को बचाना नहीं चाहिए, बल्कि उन्हें सजा देनी चाहिए। बरनी ने अफसोस जाहिर किया कि भारतीय मुस्लिम राजा अपने कर्तव्य का पालन नहीं करते और वह हिंदुओं के प्रति सहनशील थे। हिंदू आर्थिक मामलों में खुशहाल थे उन्हें उच्च पद दिए गए थे, हिंदुओं को मिली आजादी से बरनी नाराज था। उसका मानना था कि मुस्लिम शासन में हिंदुओं के रिवाज दृढ़ और मजबूत होते जा रहे थे। हिंदू खुलेआम बिना किसी डर के अपने धर्म को बढ़ा रहे थे। हिंदू संपन्न और विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे थे। वास्तव में बरनी हठधर्मिता की वजह से हिंदुओं को उच्च पदों पर व अर्थव्यवस्था पर एकाधिकार करते नहीं देख सकता था, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि वह इस्लाम का समर्थक था। बरनी केवल उच्च स्तरीय और कुलीन वर्गीय मुसलमानों का समर्थक था। हिंदूओं के साथ-साथ वह परिवर्तित मुस्लिमों और ऐसे मुसलमानों से घृणा करता था जो रुढ़िवादी सुन्नी धर्म को छोड़ चुके थे। बरनी का रवैया मुस्लिम श्रमिक एवं निम्न वर्ग के प्रति भी कठोर था। वह उन्हें शिक्षा से वंचित रखने की बात करता था। उसका मानना था कि यदि वे पढ़-लिख गए तो शिक्षा प्राप्त करने की वजह से वली, कर इकट्ठा करने वाले, लेखा-परीक्षक, अफ़सर और प्रशासक जैसे पद प्राप्त करने में सफल हो जाएँगे, इससे समाज में अव्यवस्था उत्पन्न होगी। बरनी का मानना था कि शिक्षा केवल उच्च वर्ग का विशेषाधिकार थी। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि बरनी उच्च कुलीन मुस्लिम वर्ग के हितों का हिमायती था और इसी वजह से वह हिंदुओं और निम्नवर्गीय मुस्लिमों के प्रति द्वेषपूर्ण रवैया रखता था।

4.3.3.9. बरनी का आलोचनात्मक मूल्यांकन

उपरोक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि अगर हमें सल्तनतकालीन इतिहास, राजनीति व अन्य विषय एवं परंपराओं को जानना है तो हम बरनी को अनदेखा नहीं कर सकते। वास्तव में बरनी वह कड़ी है जो हमें प्राचीन तथा आधुनिक विचारों में तारतम्यता बनाए रखने में सहायता

देती है और इतिहासकारों तथा राजनीतिक वैज्ञानिकों का मार्गदर्शन करती है। लेकिन इतने योगदान के बाद भी हम यह नहीं कह सकते कि बरनी आलोचनाओं से बचा हुआ है। बरनी वर्गों के बीच पक्षपात करने वाला इतिहासकार है, कुलीन परिवार में पैदा होने और पला-बढ़ा होने की वजह से वह केवल कुलीन वर्ग की सुरक्षा और उनकी समृद्धि को प्रोत्साहित करना चाहता था। अतः वह स्थिरता और उत्तराधिकार की माँग करता था और किसी भी बदलाव से नफरत करता था।[20]

परंतु बरनी का वास्तविकतावाद उसके धार्मिक रूढ़िवाद का सफलतापूर्वक मुकाबला करता है। उसने इस्लाम, इतिहास और पारंपरिक विज्ञान में बहुत अच्छी शिक्षा प्राप्त की थी। उसने फतवा-ए-जहाँदारी और तारीख-ए-फिरोजशाही दोनों में ही अपने रूढ़िवाद पर ज़ोर दिया है। बरनी के विषय में यह कहा जाता है कि वह एक कट्टर सुन्नी मुसलमान था और उसके इस विचार की छाप हम उस की रचनाओं में भी देख सकते हैं। हिंदुओं के प्रति बरनी एक निष्पक्ष इतिहासकार की भूमिका का निर्वाह नहीं करता है। वह सिर्फ रुढ़िवादी ही नहीं था, बल्कि हिंदू एवं हिंदूवाद के प्रति दृष्टिकोण में कट्टरपंथी भी था, इसके बावजूद भी हिंदुओं और हिंदूवाद के प्रति सहनशील रवैये के लिए उसने मोहम्मद बिन तुगलक की आलोचना नहीं की, जबकि सुल्तान तुगलक के इस अपराध के लिए बरनी के सहयोगी और समकालीन इतिहासकारों ने सुल्तान का सर कलम करने की माँग रखी थी। तुगलक के शासनकाल में समाजवाद सबसे ज्यादा ऊँचाई पर पहुँच गया था और उलेमा का प्रवेश निषेध हो गया था। सिर्फ तुगलक ने ही नहीं बल्कि शुरू के सारे तुर्की सुल्तानों ने अपनी हिंदू प्रजा को पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता दी थी। वे अपने देवताओं की मूर्तियों के सामने झुकते थे, उनका विसर्जन करते थे, धूमधाम से त्यौहार मनाते थे। सुल्तान भी हिंदुओं के त्यौहार में शामिल होते थे, मंदिरों में दर्शन हेतु जाते थे और ऐसे अवसरों पर उपहार देते थे।[21]

वास्तव में बरनी की हिंदुओं के प्रति घृणा धर्म के आधार पर नहीं, बल्कि आर्थिक आधार पर थी। कुलीन हिंदू आर्थिक मामलों में ताकतवर और ऊँचे पदों पर कार्यरत थे, वह लोग सुल्तान के प्राकृतिक सहायक के रूप में कार्य करते थे। बरनी ताकतवर, लेकिन परोपकारी राजा के समर्थन में था, उसने आदर्श राजा के लिए निर्देश दिए जिसके अनुसार वह अपने शासन का संचालन, जनता का भरण-पोषण, अपनी प्रजा की खुशहाली, राज्य की सुरक्षा और समृद्धि सुनिश्चित कर सकता था। बरनी के वास्तविकतावाद की पुष्टि करने के लिए यह बताना भी जरूरी है कि बरनी का रवैया मुसलमानों के प्रति भी बहुत आम था। वह मुसलमानों में सल्तनत का बहुत बड़ा समर्थक देखता था, लेकिन सामान्य मुसलमानों को थोड़ी आशंका और विरोध के

[20] रॉय, हिमांशु और आलम, मुजफ्फ़र, (2017), 'ज़िया बरनी : गुड सुल्तान एंड आइडियल पोलिटी', महेंद्र प्रसाद सिंह और हिमांशु रॉय (सं.), *इंडियन पोलिटिकल थॉट* : थीम्स एंड थिंकर्स, नई दिल्ली, पीयेर्सन इन्डिया, पृ. 40

[21] पांडे, ए.बी., (1960), प्रारंभिक मध्यकालीन भारत, इलाहाबाद, केंद्रीय पुस्तक विभाग, पृ. 169

साथ ही देखता था। खास करके उसे उन मुसलमानों पर शंका थी, जो नीच घरों में पैदा हुए थे और शासक वर्ग में शामिल हो गए थे। बरनी उच्च पदों पर सिर्फ़ कुलीन मुसलमानों का एकाधिकार चाहता था। अतः उसने इस बात पर जोर दिया कि राज्य के निचले तबके के मुस्लिम समुदायों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नहीं मिलना चाहिए, ताकि वे प्रशासनिक पदों को प्राप्त न कर सके।

इस चर्चा के अंत में यही नतीजा निकाला जा सकता है कि बरनी शासक वर्ग का प्रतिनिधि विचारक है। उपरोक्त समस्त आलोचनाओं और आरोपों के पश्चात भी हम उसके ऐतिहासिक योगदान को नहीं भुला सकते। हमें बरनी के विचारों और सिद्धांतों को मध्यकालीन पृष्ठभूमि में ही जाँचना चाहिए। एक विशिष्ट इतिहासकार के रूप में बरनी की प्रसिद्धि तारीख-ए-फिरोजशाही और फतवा-ए-जहाँदारी के कारण है, इन कृतियों ने बाद के इतिहासकारों को भी प्रेरणा प्रदान की। यह स्पष्ट है कि बरनी न केवल महान इतिहासकार था, बल्कि एक महान राजनीतिज्ञ भी था।

4.3.4. अबुल फज़ल (1551-1602)

16वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में दिल्ली सल्तनत के बिखराव के साथ ही सत्ता अनेक आंचलिक केंद्रों में विभक्त हो गई। परिणाम स्वरूप भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया, जिनमें लगातार संघर्ष होते रहते थे। ऐसा कोई शक्तिशाली शासक नहीं था, जो संपूर्ण भारत को अपने अधीन रख पाता। इस बिखराव, अस्थिरता और विघटन की समाप्ति काबुल के तैमूर वंशीय मुगल शासक बाबर की सिकंदर लोदी पर पानीपत में विजय के साथ हुई और आगे चलकर यही एक केंद्रीकृत परंतु बहु-प्रादेशिक मुगल साम्राज्य में परिणित हुआ।[22] राज्य विषयक मुगल सिद्धांत अनेक अवस्थाओं से गुज़रा और इस दौरान उसकी संरचना पर अरबी, कबीलाई प्रथा, उम्मत और मिल्लत जैसी इस्लामी संकल्पनाओं तथा मंगोल, तुर्की, रसनिद, और भारतीय राजनीतिक परंपराओं का गहरा प्रभाव पड़ा।

मुगल साम्राज्य मध्यकालीन राजनीतिक परंपराओं का सर्वप्रमुख हिस्सा है, जिसकी विशिष्ठता गत्यात्मकता, प्रादेशिक विस्तार, भू-राजस्व, मुद्रा व सैनिक संगठन के क्षेत्र में संस्थात्मक नवीन प्रयोग तथा धर्म व संस्कृति क्षेत्र में मिश्रित व समृद्ध लोकाचार थे। मुगल साम्राज्य विशेषकर अकबर के शासनकाल में प्रशासनिक संस्थाओं तथा व्यवहार, राज्य तथा शासन व समाज की भिन्न अवधारणा, एक भिन्न सैन्य व्यवस्था और राजनीतिक व्यवहार के नए मानदंडों का विकास हुआ।[23] इन सब की जानकारी हेतु हमें अबुल फजल के विचारों को

[22] हसन, मोहिबुल, (1983), हिस्टोरियन ऑफ मिडिवल इन्डिया, न्यू देल्ही, मीनाक्षी पब्लिकेशन, पृ. 129

[23] अली, एम्. अतहर, (2006), मुग़ल इन्डिया : स्टडीज इन पोलिटी, आइडियाज, सोसाइटी एंड कल्चर, न्यू देल्ही, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 12

पढ़ना आवश्यक हो जाता है। 1586 में अकबर ने अबुल फज़ल को अपने शासन का इतिहास लिखने का काम सौंपा। यही "अकबरनामा" था जिसके अंतिम भाग में अकबर के साम्राज्य, प्रशासन और भारतीय संस्कृति का एक गहन विवरण हमें मिलता है जिसे "आईने अकबरी" कहते हैं। यह ग्रंथ 1598 में पूरा हुआ था। इस ग्रंथ का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद 1837 में बलोचमैन और 1894 में जैरट ने किया था।[24] यह इस काल के इतिहास को जानने का सबसे विश्वसनीय ग्रंथ है।

अबुल फजल की लेखन में धार्मिक और सांस्कृतिक परंपराओं के विपरीत सुस्पष्ट बौद्धिक तत्व की उपस्थिति के कारण, इतिहास के प्रति उनकी विशालतर दृष्टि, उस युग की राजनीतिक और प्रशासनिक वास्तविकताओं को ध्यान में रखते हुए समकालीन इतिहास की विश्लेषण संबंधी उनके प्रयास तथा एक नई लेखन पद्धति के कारण उनका अध्ययन हमारे लिए अपरिहार्य बन जाता है। 'अकबरनामा' और 'आईने अकबरी' में उन्होंने अकबर की महानता को एक ठोस और सुग्राह्य रूप प्रदान किया। अबुल फजल को छोड़कर उस दौर का कोई भी इतिहासकार अपने लेखन के प्रति एक बुद्धिसंगत और धर्मनिरपेक्ष दृष्टि अपनाने तथा तथ्य संग्रह के लिए नई पद्धति का प्रयोग करने और आलोचनात्मक पड़ताल के आधार पर उन्हें प्रस्तुत करने का दावा नहीं कर सकता है।

4.3.4.1. जीवन परिचय

शेख मुबारक के बेटे अबुल फजल का जन्म 14 फरवरी, 1551 में आगरा में हुआ था। बचपन से ही वह असाधारण रूप से मेधावी थे। उनका अध्ययन पिता की निगरानी में चला जो अपने समय के प्रखरतम विद्वानों में से एक थे। शेख मुबारक ने अपने ज्ञान, विशाल और उदार दृष्टि तथा सूफी मत के प्रति अपनी आस्था के कारण व्यापक प्रतिष्ठा पाई। उनके व्यक्तित्व का अबुल फज़ल पर गहरा और स्थायी प्रभाव पड़ा। अबुल फजल के धार्मिक और राजनीतिक दृष्टिकोण पर गहरा प्रभाव छोड़ने वाली सबसे महत्वपूर्ण घटना थी, शक्तिशाली उलेमाओं के हाथों उनका और उनके परिवारजनों का उत्पीड़न जिसकी वजह से उनका परिवार भगोड़ों की जिंदगी जीता रहा। 1574 में अकबर ने इस परिवार को सुरक्षा और संरक्षण दिया। कुछ समय पश्चात् फज़ल दरबारी के रूप में सम्राट की सेवा में नियत हो गए जो उनके जीवन और जीवन वृत्त में एक महत्वपूर्ण मोड़ साबित हुआ। शाही दरबार में उन्हें धीरे-धीरे व लंबे समय में तरक्की मिली। उन्होंने मनसबदार के रूप में काम शुरु किया और 1585 में एक हज़ारी से पाँच हज़ारी के दर्जे तक पहुँचे, पर अगस्त 1602 में शाहजादा सलीम के उकसावे पर मार डाले गए।[25]

---

[24] वर्मा, हरिश्चंद्र, (1993), मध्यकालीन भारत, खंड-2, दिल्ली, दिल्ली विश्वविद्यालय, पृ. 574

[25] वर्मा, रामचंद्र, (1967), अकबरी दरबार, भाग-3, वाराणसी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, पृ. 5-6

फज़ल के जीवन वृत की ख़ास बात यह नहीं है कि वे किस दर्जे/पद पर पहुँचे, बल्कि इस बात में है कि उन्होंने सम्राट की नीतियों के निर्माण तथा कार्यान्वयन पर कितना गहरा प्रभाव छोड़ा। अबुल फजल की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका थी कट्टर उलेमाओं के खिलाफ धार्मिक बहसों को कुशलतापूर्वक मोड़ना और उनका उपयोग करना। उलेमाओं ने शेख मुबारक के परिवार का जिस तरह उत्पीड़न किया था उसके कारण उनके पुत्र उलेमाओं के समझौताविहीन शत्रु बन गए थे। अबुल फजल और फैजी ने ऐसी स्थिति का बहुत कुशलता के साथ उपयोग किया और अपने जोरदार तर्कों तथा व्यापक ज्ञान के सहारे उलेमाओं को अकबर की निगाहों से गिरा कर उनका महत्व कम कर दिया और अंततः उनको शक्तिहीन बनाकर रख दिया। अबुल फजल ने सहिष्णुता का पाठ पढ़ा जिसने उनके सामाजिक और धार्मिक विचारों में गहन परिवर्तन पैदा किया और अकबर के साथ उनकी मित्रता का आधार बना। धार्मिक सहिष्णुता का विचार उनके पूरे लेखन में आदि से अंत तक पाया जाता है।[26] अबुल फजल द्वारा रचित "अकबरनामा" तथा "आईने अकबरी" हमें मुग़ल काल खासकर अकबर के समय की राजनीतिक व प्रशासनिक व्यवस्था का विवरण प्रदान करता है, अपनी कृति "अकबरनामा" में फज़ल ने राज्य की वैधता को समझाया है और अकबर का वफादार वजीर होने के नाते वही प्रयास किया है, जिससे अकबर के कारनामों को वैधता प्राप्त हो सके। 'आईने अकबरी' पाँच भागों में विभाजित है, इसमें पहले भाग में शाही विभागों, टकसाल, खुर्दनी तथा कारखानों के उत्पादन की कीमतों, शाही हथियारखाने, बंदूकों और शाही अस्तबलों का वर्णन है। दूसरे भाग में फौजी संस्थाओं के विभिन्न विभाग, वेतन व्यवस्था, शादी-विवाह के नियम और शिक्षा व्यवस्था आदि का जिक्र किया गया है तथा इसी में मनसबदारों, धर्मगुरुओं और विद्वानों की सूची भी सम्मिलित है। तीसरे भाग में साम्राज्य के उच्च पदों जैसे- फौजदार, मीर-ए-अदल यानि काज़ी, कोतवाल इत्यादि का जिक्र है, साथ ही कृषि व्यवस्था, मालगुजारी की दर तथा अंत में बारह सूबों का वर्णन किया गया है। चौथे भाग में हिंदू धर्म की नक्षत्र विद्या, दर्शनशास्त्र व चिकित्सा पद्धति का जिक्र है। पाँचवें भाग में अकबर के बुद्धिमानी पूर्ण कार्यों का वर्णन करते हुए उपसंहार किया गया है तथा अब्दुल फजल का संक्षिप्त जीवन परिचय भी हमें यहीं मिलता है।

अबुल फजल ने अपने लेखन में वर्णात्मक, ऐतिहासिक निगमनात्मक पद्धति (Historical Deductive Approach) अपनाते हुए संदर्भों का भी सहारा लिया है। दूरदर्शिता, सत्यवादिता और सावधानी उनकी पद्धति की विशेषता है। उनका लेखन क्षेत्र-अध्ययन के तहत एक बेजोड़ कृति हैं, यह केवल लेखक द्वारा घटनाओं का विवरण मात्र नहीं है बल्कि एक हद तक प्रमाणिक आरंभिक कार्य और व्यवस्थित तथ्य संग्रह पर आधारित लेखन है। अबुल फज़ल ने केवल

[26] वर्मा, रामचंद्र, पूर्वोक्त, पृ. 13-15

घटनाओं का विवरण ही नहीं दिया है, बल्कि उनके कारण भी समझाने की कोशिश की है। आगे के पृष्ठों में उनके विचारों की चर्चा की गयी है।

4.3.4.2. पादशाहत (बादशाहत) का सिद्धांत

मुगल शासन व्यवस्था में बादशाह का स्थान केंद्रीय व सर्वोच्च था। निसंदेह यही कारण था कि मुगल साम्राज्य केंद्रीकृत अधिकारी तंत्र कायम कर पाया। वस्तुतः बाबर द्वारा स्थापित राज्य प्रभुसत्ता के तुर्क-मंगोल सिद्धांत पर आधारित है, जिसका विकास मध्यवर्ती एशिया में हुआ था।[27] बाबर से पहले दिल्ली के मुस्लिम शासक सुल्तान कहलाते थे, जो एक तुर्की पदवी थी, परंतु बाबर ने बादशाह की उपाधि धारण की, जिसको पश्चातवर्ती मुग़ल बादशाहों ने भी अपनाया। राज्य विषयक मुगल सिद्धांत की केंद्रीय धुरी बादशाहत या राजत्व की अवधारणा जिन विचारों पर आधारित थी वह इस्लामी, मंगोल, तुर्की, ईरानी और भारतीय राजनीतिक परंपराओं का मिश्रण थी। अंत में जो स्वरूप उभरा वह हुमायूँ और अकबर के शासन में व्यावहारिक हुआ और अबुल फजल के पादशाहत के सिद्धांत में स्पष्ट हुआ। इनके अनुसार 'बादशाहत' खुदा से निकलने वाली रोशनी (फर्रे-ए-इज़्दी) है जिसे खुद खुदा ने ही पृथ्वी पर भेजा है।[28] एक आदर्श बादशाह खुदा की परछाई होता है जो चरम और अविभाज्य शक्ति का उपयोग करते हुए अपने अधीनस्थ राज्य या इलाकों में 'एक नियम-एक नियामक, एक मार्गदर्शक, एक लक्ष्य और एक विचार' के अनुसार अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करता है। बादशाह को चाहिए कि वह अपने आप को अपनी प्रजा का पिता समझें और उसकी सुख सुविधा का ध्यान रखते हुए प्रजापालक बने।

बादशाह को सभी धर्म और संप्रदायों के मानने वालों से पक्षपातरहित तथा सामंजस्यपूर्ण रवैया अपनाना चाहिए, यदि वह ऐसा नहीं करता तो वह बादशाहत की उच्च गरिमा को धारण करने का अधिकारी नहीं माना जा सकता। पादशाही (बादशाहत) की व्याख्या करते हुए अबुल फजल ने स्पष्ट किया है कि 'पाद' शब्द का अर्थ है स्थायित्व और स्वामित्व तथा 'शाह' शब्द का अर्थ है मूल और स्वामी। अतः पादशाह (बादशाह) का अर्थ है ऐसा शक्तिशाली स्वामी या राजा जिसे कोई अपदस्थ नहीं कर सकता। यूनानी चिंतक प्लेटो के आदर्श राजा की भाँति अकबर अबुल फज़ल के लिए एक आदर्श एवं सर्वगुण संपन्न शासक था। साथ ही वह समस्त शक्तियों का स्वामी था, जिस पर किसी प्रकार का नियंत्रण या बंधन नहीं था। अकबर की सर्वोच्च सत्ता को स्थापित करने के लिए अबुल फज़ल ने दैवीय सिद्धांत का सहारा लिया। फज़ल ने कहा कि आदर्श बादशाह को न केवल अल्लाह ने अपना नूर बिना किसी मध्यस्थ के प्रत्यक्ष रूप से बक्शा है, इसके साथ ही उसने कुछ महान गुणों का भी वर्णन किया जैसे- बादशाह जनता के प्रति पितृत्व प्रेम रखें, उसे एक विशाल हृदय का स्वामी होना चाहिए, अपनी सफलताओं में

[27] सरकार, जे.एन., (1984), मुग़ल पोलिटी, दिल्ली, इदारा-ए-अदबियात-ए-दिल्ली, पृ. 32-37

[28] अली, एम. अतहर, पूर्वोक्त, पृ. 125

बादशाह को अल्लाह को याद रखना चाहिए और उसे अल्लाह में अटूट विश्वास होना चाहिए, बादशाह को सभी धर्मों का आदर करना चाहिए। वह विवेकशील एवं न्यायप्रिय हो, वह हमेशा सत्यवादी लोगों को खोजे और चापलूसों से दूर रहे। हिंसा और असंतोष को राज्य में पनपने न दे और शांति की स्थापना करे।

4.3.4.3. बादशाहत में संप्रभुता

बादशाह की संप्रभुता की अवधारणा वस्तुतः अत्यधिक केंद्रीकृत एवं निरंकुश राजतंत्र की अवधारणा थी। राज्य के अत्यधिक केंद्रीकृत होने के कारण सम्राट शासन की अनन्य धुरी था। शासन की समस्त गतिविधियाँ बादशाह द्वारा ही संचालित की जाती थी। राजघराने के तमाम मामलों से लेकर वित्त और प्रांतीय प्रशासन, संचार व्यवस्था, कृषि, व्यापार, उद्योग, वाणिज्य, शिक्षा एवं विद्वानों के प्रोत्साहन तक सभी बातों पर बादशाह स्वयं निर्णय लेता था। सैद्धांतिक रूप से सम्राट की एकाधिकार सत्ता पर एकमात्र सीमा शरीयत की हो सकती थी, परंतु अकबर ने स्वयं को 'इमाम-ए-आदिल' की पदवी के साथ इस क्षेत्र में भी सर्वोच्च घोषित कर दिया था।[29] केवल सिद्धांत रूप में कुराने का कानून राज्य में मूलभूत कानून माना जाता था। इसको यदि राज्य सत्ता पर सीमा मान भी लिया जाए तो मुगल शासन को सीमित राजतंत्र माना जा सकता है अन्यथा बादशाह को मुगल राज्य व्यवस्था में सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। कुरान का कानून बादशाह पर किसी भी प्रकार से बाध्यकारी शक्ति के रूप में लागू नहीं हुआ था।

आदर्श राज्य व शासन व्यवस्था राजनीतिक विज्ञान का केंद्र बिंदु रहा है। प्लेटो के 'रिपब्लिक का न्याय सिद्धांत', अरस्तु की 'पॉलिटिक्स का आदर्श राज्य का सिद्धांत' या फिर कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र का सप्तांग' और 'मंडल सिद्धांत', इन सभी विचारकों के विचार में हमें राज्य की शासन व्यवस्था को सुचारु तरीके से चलाने के लिए दिए विचार नजर आते हैं। यही विचार हम अबुल फज़ल के **"अकबरनामा"** और 'आईने अकबरी' में देख सकते हैं। अपनी इन कृतियों में अबुल फज़ल ने अकबर की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और प्रशासनिक नीतियों का ज़िक्र व समर्थन किया है। यदि हम फज़ल के इन विचारों की आधुनिक भारतीय राज्य के संविधान में वर्णित तीनों अंग विधानपालिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका से तुलना करें तो यह विचार राजनीतिक विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए अधिक उपयुक्त व महत्वपूर्ण हो जाते हैं। मध्यकालीन भारत में जहाँ कुरान में वर्णित इस्लामिक कानून और शरीयत के तहत राज्य के संचालन को मान्यता मिली थी, वही आधुनिक भारतीय राज्य में भारतीय संविधान को यह सर्वोच्चता प्राप्त है। अबुल फज़ल के समय जहाँ अकबर जैसे महान शासक में ही विधानपालिका (कानून निर्माण करने वाली संस्था), कार्यपालिका (कानूनों का पालन करने वाली संस्था) तथा

[29] यादव, सुषमा और शर्मा, राम अवतार, (2000), भारतीय राज्य उत्पत्ति एवं विकास, दिल्ली, आकार पब्लिकेशन्स, पृ. 338-339

न्यायपालिका (कानून के उल्लंघन पर दंड देने वाली संस्था) की शक्तियाँ समाहित है, वहीं आधुनिक भारतीय राज्य में संविधान द्वारा वर्णित यह तीनों शक्तियाँ अलग-अलग संस्थाओं में निहित है। धर्म मध्ययुग का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है जिसका मध्यकालीन राजनीति व प्रशासन दोनों पर प्रभुत्व था, धर्म उस समय सर्वशक्तिशाली था, क्योंकि इस्लाम में कुरान और शरीयत के नियमों से अलग राज्य को मान्यता नहीं मिली थी। किंतु अकबर ने इस परंपरा में एक क्रांतिकारी फेरबदल किया जिसके परिणामस्वरूप उसने 'सुलह-ए-कुल' तथा 'दीन-ए-इलाही' जैसी नीतियों एवं सिद्धांतों की शुरुआत की जिसमें सर्वधर्म समभाव की भावना नजर आती है। कहीं न कहीं यह विचार आधुनिक भारत के धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत से मेल खाता है। इस प्रकार अकबर एक पूर्ण संप्रभु शासक के रूप में कार्य करता था, जो हर क्षेत्र में सर्वोच्च था।[30]

4.3.4.4. सहिष्णुता एवं शांति का सिद्धांत-सुलह-ए-कुल

अबुल फज़ल की धार्मिक विचार उससे पहले के मुस्लिम चिंतकों से भिन्न थे, जिसके कारण उसे अपने समकालीनों की कड़ी आलोचना का भी शिकार होना पड़ा। वास्तव में वह 'सुलह-ए-कुल' अर्थात् सर्वत्र शांति के सिद्धांत में विश्वास रखते थे और सभी धर्मों की अच्छाई में विश्वास करने वाले चिंतक थे। 'आईने अकबरी' और 'अकबरनामा' का अध्ययन करने पर पता चलता है कि वह बुद्धिवादी और मुक्त चिंतक थे। अपने लेखन में वह रिवायतों, रिवाजों और पुरानी धार्मिक पुस्तकों में व्यक्त विचारों का सहारा लेने वालों रुढ़िवादी उलेमाओं को तक़लीदी (नक्काल) कहते हैं। उनके अनुसार ऐसे नासमझ और मूर्ख अज्ञानी यह नहीं समझ पाते कि समय बीतने के साथ धर्म और कानून की पुस्तकों में व्यक्त सत्य भी पुरातन और समय विरोधी हो चुके होते हैं। उनका कथन है - "अक़्ल को स्वीकारना और परंपरावाद (तक़लीद) को नकारना इस कदर जरूरी है कि इन पर बहस की जरूरत ही नहीं है। अगर तक़लीद मुनासिब होती तो पैगंबर ने अपने बुजुर्गों की तक़लीद (नकल) की होती वह नया संदेश (धर्म) लेकर नहीं आते"।[31]

इस तरह हम अबुल फज़ल के विचारों से अंदाजा लगा सकते हैं कि वह धार्मिक सहिष्णुता में विश्वास रखते थे और जब तक स्वीकृत विचार और पारंपरिक विश्वास सत्य की कसौटी पर खरे नहीं उतरते, उन्हे मानने से इनकार करते थे। उनका मानना था कि धार्मिक मतभेदों के लिए उत्पीड़न व्यर्थ और अबुद्धिसंगत है, इसलिए उन्होंने इस बात की पैरवी की कि सम्राट राजनीतिक कदम उठाकर विभिन्न धर्मों के बुद्धिमान और विद्वान व्यक्तियों के मध्य

[30] हबीब, इरफ़ान (सं.), (1999), मध्यकालीन भारत, खण्ड- चार, नयी दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. 86

[31] कमला, (2016), 'अबुल फज़ल : राजतंत्र', त्यागी, रूचि (सं.), *प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत का राजनीतिक चिंतन : प्रमुख परम्पराएं एवं चिंतन*, दिल्ली, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, पृ. 398

विचार-विमर्श के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ पैदा करें, ताकि नफरत और दुश्मनी को जन्म देने वाली गलतफहमियाँ दूर हो सकें। अबुल फज़ल के विचारों का अकबर पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा, यह बात अकबर की धार्मिक सहिष्णुता की नीतियों में नजर आती है। जहाँ पहले के मुगल शासक धर्मांध और कट्टरपंथी थे, वही अकबर ने धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की नीतियाँ अपनाई। अकबर को ऐसे कई उदारवादी नीतियों का श्रेय दिया जाता है और इनको मुगल साम्राज्य में धर्म एवं राज्य के अंतर्संबंधों को एक नवीन सैद्धांतिक आधार प्रदान करने की दिशा में पहला उल्लेखनीय प्रयास माना जा सकता है।

1575 में अकबर ने धार्मिक खुलेपन का परिचय देते हुए इबादत खानों की स्थापना की, जो धार्मिक विषय पर वाद-विवाद के उद्देश्य से बनवाया गया था। सत्य की खोज इसका प्रमुख उद्देश्य था। यहाँ विभिन्न धर्मों के विद्वान, संशयवादी, दार्शनिक, भौतिकवादी, हिंदू और मुस्लिम धार्मिक विषयों पर वाद-विवाद करते थे। अकबर यह मानता था कि ज्ञानी पुरुष हर धर्म में पाए जाते हैं। सत्य किसी एक धर्म खासकर इस्लाम की बपौती नहीं है। इबादतखाने में हुई बहसों का यह परिणामस्वरूप यह माना जाने लगा कि बादशाह ने अपनी सत्ता अल्लाह से प्राप्त की है, इसलिए उसे भौतिक सत्ता के साथ-साथ धार्मिक सत्ता का केंद्र भी होना चाहिए और 1579 में 'महज़र' नामक दस्तावेज से अकबर भौतिक और धार्मिक क्षेत्र में सर्वोच्च सत्ता का स्वामी बन गया। यह महज़र भारतीय मुस्लिम कानूनों के विकास में एक महत्वपूर्ण आयाम था, जिसमें अकबर को अमीरुल मोमिनीन अर्थात ईस्लाम में विश्वास रखने वालों का नायक कहा गया।

4.3.4.5. दीन-ए-इलाही : धार्मिक समन्वय की अवधारणा

1579 तक आध्यात्मिक और अलौकिक शक्तियाँ बादशाह के अधीन करने तथा कट्टरपंथी उलेमाओं की शक्तियों को प्रतिबंधित करने के बाद अकबर ने एक ऐसी उपासना पद्धति की खोज आरंभ की, जो कट्टरपंथी इस्लाम और हिंदू धर्म की पद्धतियों से भिन्न हो, जो लोगों के मन से जुड़ी हो। अकबर निराकार ईश्वर में विश्वास करता था और उसका मानना था कि गंभीर मानसिक चिंतन से ही ईश्वर का सच्चा बोध हो सकता है। उसका यह भी मानना था कि सभी परिवर्तनों के मूल में वास्तविकता व अटल सत्य एक ही है। अकबर के तौहीद-ए-इलाही (दिव्य एकेश्वरवाद) पर आधारित विचार पद्धति, एक नए धर्म दीन-ए-इलाही की अभिव्यक्ति थी, जो कट्टरपंथी इस्लाम तथा हिंदू धर्म दोनों के प्रभावों से मुक्त था। इसके मूल में सर्वेश्वरवाद का विचार था, जिसमें आध्यात्मिक नेतृत्व अकबर के हाथों में सन्निहित था। इस धर्म के नव दीक्षित सदस्यों को बादशाह के लिए अपना जीवन, संपत्ति, सम्मान और धर्म उत्सर्ग करने को तैयार रहना पड़ता था, किंतु यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि अकबर ने कभी भी लोगों को इस धर्म को अपनाने के लिए विवश नहीं किया।

अतः अकबर की व्यक्तिगत धार्मिक विचार पद्धति यानी तौहीद-ए-इलाही मुगल साम्राज्य के सार्वलौकिक सहिष्णुता अर्थात सुलह-ए-कुल के उदार सिद्धांतों में समाविष्ट हो गई जिसका

निरूपण अबुल फज़ल ने किया।[32] 'अकबरनामा' व 'आईने अकबरी' में अबुल फज़ल ने अकबर द्वारा विभिन्न धर्मों की कुरीतियों को समाप्त करने का भी जिक्र किया है, जैसे - बाल विवाह पर प्रतिबंध, यदि जरूरी न हो तो एक से अधिक विवाह पर प्रतिबंध, सती प्रथा के बारे में भी यह माना गया कि किसी औरत को जबरदस्ती सती होने के लिए विवश न किया जाए, अकबर ने मदिरा पान तथा वेश्यावृत्ति को भी नियंत्रित करने के नियम बनाए, शाही दरबार में अन्य धर्मों के रीति रिवाजों को अपनाया गया और हिंदू तथा ईसाइयों को अपने धार्मिक पूजा स्थलों की स्थापना की स्वतंत्रता भी प्रदान की गई। इस प्रकार अबुल फज़ल सर्वधर्म समभाव के विचार को आगे बढ़ाते हैं। अबुल फज़ल का मानना था कि वह ऐसा इसलिए करना चाहते हैं क्योंकि वह एक ऐसे हिंदुस्तान की रचना करना चाहते हैं जो विश्व के सामने पूर्ण आत्मविश्वास के साथ खड़ा हो सके।[33]

4.3.4.6. समाज का वर्गीकरण

हिंदू विचारकों की तरह ही अबुल फज़ल ने भी समाज को चार भागों में विभाजित किया। किंतु जहाँ हिंदू विचारों में ब्राह्मण (ज्ञानी एवं बुद्धिमान व्यक्ति) को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है, वहीं अबुल फज़ल ने योद्धाओं, सैनिकों और शासकों को पहला स्थान और ब्राह्मणों को दूसरा स्थान दिया है जबकि हिंदू विचारों में क्षत्रिय तथा शासकों को दूसरे स्थान पर रखा गया है। तीसरे स्थान पर वे शिल्पियों तथा व्यवसायियों को रखते हैं, उनका मानना है कि यह वह लोग हैं जो अल्लाह की इनायतों को सार्वभौमिक बनाते हैं और पूरे विश्व में खुदा की रहमतों का प्रसार करते हैं। अंतिम स्थान पर अबुल फज़ल ने किसानों और श्रमिकों को रखा है, वह इनकी तुलना पृथ्वी के साथ करते हैं, क्योंकि इन्हीं के प्रयास और मेहनत से सबको खुशियाँ, क्षमता और जीवन शक्ति मिलती है।[34]

अबुल फज़ल ने समाज का यह वर्ग विभाजन अपने वक्त में मौजूद सामाजिक तथ्यों को ध्यान में रखकर किया था। इसके अलावा वह यूनानी परंपराओं के आधार पर मानव समूह को तीन वर्गों में विभाजित करता है, गुणों के आधार पर यह तीन वर्ग है - कुलीन वर्ग, मध्यम वर्ग एवं निम्न वर्ग। कुलीन वर्ग में वे लोग आते हैं, जो शुद्ध या पवित्र और ज्ञानी है तथा निम्न एवं मध्यम वर्ग में विभिन्न व्यावसायिक वर्गों को शामिल किया है। सतीश चंद्र के अनुसार - "सामाजिक वर्गीकरण पर अबुल फज़ल के विचार उच्च कुलीन वर्गीय पूर्वाग्रहों पर आधारित है, विशेषकर निम्न व मध्यम वर्ग पर उसके विचार।" वह ज़ोर देता है कि इस वर्ग में प्रशासन एवं शासन से जुड़ी क्षमताएँ नहीं होती है, अत: राज्य के प्रशासन एवं राजनीतिक शक्तियों पर केवल

---

[32] अली, एम. अतहर, पूर्वोक्त, पृ. 162-164

[33] वही, पृ. 125-126

[34] सतीश चन्द्र, (2007), मिडिवल इन्डिया; फ्रॉम सल्तनत टू द मुग़ल्स, मुग़ल इम्पायर (1526-1748), पार्ट II, न्यू देल्ही, हर आनन्द पब्लिकेशन, पृ. 132-133

उच्च कुलीन वर्गीय परिवारों का ही आधिपत्य होना चाहिए। बादशाह जो फर्र-ए-इज़्दी (पवित्र नूर) से युक्त होता है, यह उसका दायित्व है कि वह समाज की व्यवस्था को बनाए रखें और इसमें किसी प्रकार का व्यवधान उत्पन्न न होने दें। यह वर्गीकरण सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए आवश्यक शाही निरंकुशता को भी औचित्य प्रदान करती है, क्योंकि केवल बादशाह के पास ही वे शक्तियाँ एवं आवश्यक योग्यताएँ हैं जिसके द्वारा वह समाज के विभिन्न वर्गों को नियंत्रित कर सकता हैं। साथ ही यह भी जरूरी है कि समाज के प्रत्येक वर्ग अपने निश्चित भूमिका एवं निर्धारित कर्तव्यों को निभाएँ, जिससे संसार उन्नति कर सकें। अबुल फज़ल अकबर के इस इस कथन को उद्धृत करता है जिसमें वह अपने दरोगा को इस पर नजर रखने की आज्ञा देता है कि कोई भी अपने व्यवसाय को नहीं छोड़े।[35]

4.3.4.7. प्रशासनिक व्यवस्थाओं पर विचार

किसी भी राज्य की महानता राज्य के लोगों की खुशहाली पर निर्भर करती है। अबुल फज़ल का मानना था कि उत्साही, बुद्धिमान, सशक्त तथा समर्पित दरबारियों की सहायता से बादशाह बड़े से बड़े दुश्मन से निजात पा सकता है। 'आईने अकबरी' में प्रशासन का जो रूप बताया गया है, वह अकबर के साम्राज्य की रूपरेखा हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है, जिसकी तुलना इससे पहले लिखी गयी भारतीय राजनीतिक कृतियों से की जा सकती है, जैसे - कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र'। अबुल फज़ल ने पूरे राज्य को कई स्तरों में विभाजित किया है, हर विभाग का परिचालन उसके उच्च अधिकारियों द्वारा होता था। फज़ल का मानना था कि बादशाह को राज्य के कार्यों से निजी हित को अलग रखना चाहिए।

यद्यपि मुगल शासन व्यवस्था की केंद्रीय धुरी बादशाह था तथापि राज्य की विशालता को देखते हुए एक व्यक्ति के लिए प्रशासन का कार्य संभालना असंभव था। अबुल फज़ल के समय में भी दिल्ली सल्तनत की भाँति ही एक विस्तृत प्रशासनिक व्यवस्था केंद्र, प्रांतों तथा स्थानीय स्तर पर विभाजित की गई थी, जिसमें मंत्रिपरिषद का सर्वोच्च स्थान था और वकील इन मंत्रियों का प्रमुख होता था।[36] यही कारण था कि अबुल फज़ल ने इस पद को काफी महत्वपूर्ण और शक्तिमान बताया है। मुगल प्रशासन में वजीर या दीवान राजस्व एवं वित्त विभाग का अध्यक्ष होता था। दीवान के कार्यों, शक्तियों एवं उत्तरदायित्वों के संबंध में अबुल फजल का मत है कि वजीर जिसे दीवान भी कहा जाता है वित्तीय मामलों में सम्राट का प्रतिनिधि होता है, वह शाही खजानों का प्रबंधक होता है तथा सभी खातों की जाँच करता है। वज़ीर या दीवान के द्वारा केंद्रीय स्तर पर सूबेदार, फौजदार, दीवाने आमिल, दरोगा तथा प्रांतीय

[35] सतीश चन्द्र, पूर्वोक्त, पृ. 133

[36] डे, यू.एन., (1994), दी मुग़ल गवर्नमेंट, 1556-1707 ए.डी., नयी दिल्ली, मुंशीलाल मनोहरलाल पब्लिकेशन, पृ. 32-34

स्तर पर मुशरिफ, तहसीलदार, खजांची, ज़मीदार आदि की नियुक्तियाँ भी की जाती थीं। इसके अलावा केंद्रीय स्तर पर अन्य अधिकारीयों में मीर बक्शी जो सैन्य विभाग का प्रमुख होता था, मीर-ए-सामान, राज्य के कारखानों व भंडारों का मुख्य कार्यकारी अधिकारी था, सर्वोच्च धार्मिक अधिकारी सद्र होता था जिसका कार्य शरियत की रक्षा व उसके ज्ञान में वृद्धि करना तथा शरियत के अनुसार न्याय करना था, किंतु बाद में अकबर ने उसके अधिकारों को सीमित कर दिया।

मुगल शासन काल में प्रांतीय प्रशासन इतना शक्तिशाली हो चुका था कि केंद्र का नियंत्रण उस पर नहीं के समान था, इसलिए अकबर ने अपने शासनकाल में प्रांतीय प्रशासन का एक नया आधार तैयार किया और 1580 में साम्राज्य को 12 सूबों में विभाजित कर दिया। प्रत्येक प्रांत या सूबे की प्रशासनिक व्यवस्था केंद्रीय प्रशासन का ही लघु स्वरूप थी, जिसमें गवर्नर या साहिब-ए-सूबा या सिपहसालार या नाजिम सूबे का सर्वोच्च अधिकारी होता था। इसके अलावा दीवान, फौजदार, बख्शी, सद्र अथवा काजी, आमिल, पटवारी, कोतवाल, वाक्यानवीस और मुहतसिब नामक अधिकारी होते थे। प्रजा व सेना का कल्याण गवर्नर का उत्तरदायित्व था, ताकि अधीनस्थ अफसरों पर निगरानी रख प्रशासन को गड़बड़ी से बचाया जा सके। प्रशासनिक सुविधा और बेहतर नियंत्रण के लिए प्रांतों या सूबों को सरकारों में विभक्त किया गया था जिनमें से प्रत्येक का प्रमुख कार्यकारी अधिकारी फौजदार था। फौजदार को मुगल साम्राज्य का सीधा प्रतिनिधि माना जाता था, उसका मुख्य दायित्व कानून और व्यवस्था को बनाए रखना था।[37]

मनसबदारी व्यवस्था जिसका जिक्र अबुल फजल ने 'आईने अकबरी' ने किया है एक विशिष्ट प्रशासनिक व्यवस्था थी, जो मुगल साम्राज्य की सैन्य व नागरिक सेवाओं तथा मुगलकालीन अमीर वर्ग 'उमरा' के संगठन का मूलाधार थी, जिसका प्रचलन अकबर द्वारा किया गया था। मनसब का शाब्दिक अर्थ है - पदवी, गौरव या प्रतिष्ठा। फारसी भाषा में इसका अर्थ 'ओहदा', अरबी भाषा में 'स्थान' और अंग्रेजी में पद (Rank) होता है। मनसबदार की दो मुख्य श्रेणियाँ होती है - प्रथम श्रेणी को 'उमरा' और द्वितीय श्रेणी को साधारण मनसबदार कहा जाता था। अबुल फज़ल ने 500 और उससे अधिक, 400 से 200 तक तथा 150 से 10 तक के मनसबदारों की सूची दी है, इस सूची में 200 तक के मनसब पद प्राप्त करने वाले मनसबदारों को उमरा वर्ग की श्रेणी में रखा गया है। अबुल फज़ल का मानना था कि इस उमरा वर्ग ने मुगल काल की प्रशासनिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में अपना पूर्ण योगदान दिया अत: उसने शहंशाह एवं उमरा वर्ग के बीच मैत्री स्थापित करने के लिए उनसे राजनीतिक तथा वैवाहिक संबंध स्थापित करने का समर्थन किया, ताकि साम्राज्य की सीमाओं में वृद्धि करने, उसे सुदृढ़ बनाने, शहंशाह को प्रशासन तथा साम्राज्य की नीतियों के निर्धारण के संबंध में उनका सहयोग

[37] महाजन, विद्याधर, (1970), मुस्लिम-कालीन भारत, दिल्ली, एस. चाँद एंड कंपनी, पृ. 268-273

उसे निरंतर मिलता रहे। उमरा वर्ग के सदस्य मुगल साम्राज्य के विस्तार से ही नहीं वरन भू राजस्व की वसूली, विद्रोह के दमन, सीमांत प्रदेशों की सुरक्षा के प्रबंध तथा अन्य कार्यों में विशेष रूप से भाग लेते थे। साम्राज्य की सेवा का आधार सैनिक संगठन पर पूर्णतया निर्भर करता था तथा साम्राज्य के पदाधिकारी 33 प्रकार के विभिन्न पदों पर रहकर 10 से 10000 तक मनसब प्राप्त कर सकते थे। सभी मनसबदारों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे सैनिक, प्रशासकीय तथा न्यायिक कार्यों में अपना सहयोग दें। अकबर के साम्राज्य में प्रशासनिक कार्यों में हिंदू तथा मुस्लिम समान रूप से कार्य करते थे। मनसब पद्धति में जात और सवार की प्रथा लागू थी तथा प्रत्येक मनसबदार को निश्चित सैन्य टुकड़ी और घुडसवार रखना अनिवार्य था। सुधारपरक योजना को लागू करते हुए सम्राट अकबर ने घोड़ों की पहचान के लिए दाग और सैनिकों के लिए हुलिया या चेहरा की पद्धति लागू की, इसके कारण सैनिकों में नियमितता व ईमानदारीपूर्वक कार्य करने की परंपरा विकसित हुई और इससे सम्राट को राजनीतिक व आर्थिक दृष्टि से काफी लाभ मिला।[38]

अबुल फज़ल का यह मानना था कि सशक्त व सुव्यवस्थित केंद्रीय प्रशासन की स्थापना के लिए सुस्पष्ट नियमों पर आधारित एक ऐसी प्रशासनिक व्यवस्था आवश्यक थी, जिसमें अमीर 'उमरा' वर्ग को अपनी अधीनस्थ स्थिति तथा शासन के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का बोध हो तथा प्रशासनिक पदों पर नियुक्ति व पदोन्नति के लिए योग्यता तथा कार्यकुशलता को प्राथमिकता दी जाए। इसके लिए अकबर ने पूर्व प्रचलित जागीरदारी व्यवस्था को ही आधार बनाकर उसमें क्रमिक परिवर्तन व सुधार किए, जिससे 1566-75 के दशक में मनसबदारी व्यवस्था का विकास हुआ। यह व्यवस्था अकबर द्वारा प्रारंभ किए गए राजस्व सुधारों से जुड़ी हुई थी। मनसबदारी व्यवस्था के अध्ययन से हमें स्पष्ट प्रतीत होता है कि अबुल फज़ल ने पदानुक्रमिक प्रशासनिक व्यवस्था की वकालत की है, जो अकबर के प्रशासन का भी मूलाधार थी। मनसबदारों की नियुक्तियाँ सम्राट स्वयं करता था। किसको कौन-सी श्रेणी दी जाए यह नियुक्त किए जाने वाले की परिस्थिति पर निर्भर करता था। मनसबदार के पद के लिए कोई मान्य कसौटी या योग्यता निर्धारित नहीं थी। सम्राट अपने विवेक से ही व्यक्ति पर परखकर उसे मनसबदार नियुक्त करते थे। मुगलकालीन प्रशासनिक व्यवस्था में प्रशासन पर शहंशाह का ही पूर्ण नियंत्रण था, सम्राट किसी के प्रति भी उत्तरदायी नहीं था।

4.3.4.8. न्याय का दैवीय सिद्धांत

अबुल फजल का मानना था कि बादशाह एक अर्ध दैवीय व्यक्ति होता है इसलिए बादशाह के प्रति सभी को वफादार होना चाहिए और बादशाह को भी चाहिए कि वह अपने राज्य की

[38] उपाध्याय, ओंकार नाथ, (1992), अकबर तथा जहांगीर के अंतर्गत हिन्दू उमरा वर्ग, आगरा, वाई.के. पब्लिशर्स, पृ. 14

जनता को न्याय प्रदान करें तथा उन्हें मायूस न होने दें। हमेशा जुल्म करने वालों को दंड दे और पीड़ित जनता को इंसाफ प्रदान करें। फज़ल का न्याय सिद्धांत निसंदेह पुराने रिवाजों पर आधारित था, फिर भी न्याय के मामले में भी वो अंतिम सत्ता बादशाह को ही प्रदान करता है, जिसका कार्य शांति और व्यवस्था बनाए रखना था। अबुल फज़ल जब कहते हैं कि बादशाह को न्यायप्रिय, दयालु, व सहिष्णु होना चाहिए तथा जनता को अपनी संतान व स्वयं को पितातुल्य समझना चाहिए, तब उनके विचारों में न्याय की वास्तविक अवधारणा स्वयं ही निहित प्रतीत होती है। अबुल फज़ल मानते हैं कि बादशाह को चाहिए कि वह खुद को अल्लाह द्वारा जनता की भलाई करने का माध्यम माने, उसके हाथों किसी का अहित न हो, वह निष्पक्ष हो, छोटे या बड़े सबके साथ समान व्यवहार करें। उसे समस्त जनता की इच्छाओं का ख्याल रखना चाहिए। बादशाह सदैव अपने राज्य में सुशासन लाने का प्रयास करें तथा उसका समाज एक सभ्य समाज हो जहाँ समस्त जनता खुशहाल हो और बादशाह के कार्यों से संतुष्ट हो। बादशाह को चाहिए कि वह दंड देते समय सत्य को परख कर ही इंसाफ करें। वह अच्छे कार्य करने वाले को पुरस्कार तथा बुरे कार्य करने वाले को दंड दे। न्याय के संदर्भ में अबुल फज़ल की मूल तार्किक अवधारणा यह थी कि बादशाह को किसी भी धार्मिक व्यक्ति पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। उसके अनुसार बादशाह को बिना किसी धार्मिक भेदभाव के सभी को स्वतंत्र व निष्पक्ष न्याय प्रदान करना चाहिए।[39]

4.3.4.9. अबुल फज़ल का मूल्यांकन

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अकबर के जीवन एवं शासन संचालन में अबुल फजल ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। वह मात्र अकबर का दरबारी कवि या लेखक ही नहीं अपितु वह अपने समय का इतिहासकार, निबंधकार, प्रखर आलोचक तथा अकबर का प्रमुख सलाहकार और सहयोगी थे। उनके द्वारा रचित 'अकबरनामा' तथा 'आईने अकबरी' ऐसे प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रंथ है, जिनसे मुगल कालीन राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियों को समझने में सहायता मिलती है। अकबर की धार्मिक सहिष्णुता व उदारता के पीछे फज़ल का बड़ा प्रभाव था, कहा जाता है की दीन-ए-इलाही धर्म की प्रेरणा अकबर को इन्होंने ही दी। इन सबके बावजूद फज़ल के विचार आलोचनाओं से परे नहीं हैं, किंतु अबुल फज़ल का मूल्यांकन करते समय हमें कुछ सीमाओं को ध्यान में रखना होगा। अबुल फज़ल अकबर का प्रिय दरबारी और विश्वस्त वज़ीर थे, उनके बुरे समय में अकबर उनके लिए एक फरिश्ता बनकर आया था इसलिए शायद वह अकबर को एक पूर्ण मनुष्य और आदर्श सम्राट मानते थे। अकबर के प्रति उनमें अटूट श्रद्धा और गहरी आस्था थी, इसी नाते अबुल फज़ल ने अकबर और उसकी

[39] अप्पादोरॉय, ए., (2002), पॉलिटिकल थॉट्स इन इन्डिया, दिल्ली, खामा पब्लिशर्स, पृ 180

गतिविधियों, नीतियों और उपायों का समर्थन और कई जगह उनका महिमामंडन भी किया है।[40] फज़ल ने 'आईने अकबरी' में अकबर को एक नायक, एक पूर्ण मनुष्य और एक आदर्श सम्राट दिखाने का प्रयास किया है, जिसके कारण उनका वर्णन तथ्य आधारित होकर भी पक्षपातपूर्ण हो जाता है। कई जगह वे सम्राट के प्रति संयम और नियंत्रण बरतने से चूक जाते हैं क्योंकि उनका उद्देश्य अकबर की उपलब्धियों का गुणगान तथा उसकी खामियों और नाकामियों की पर्दापोशी करना था। 'अकबरनामा' व 'आईने अकबरी' के अध्ययन से हम अंदाजा लगा सकते हैं कि उनके विचार वस्तुनिष्ठ कम तथा व्यक्तिनिष्ठ अधिक है, साथ ही यह भी देखा जा सकता है कि अबुल फज़ल क्षेत्रवाद, स्थानीय राजभक्ति और स्वतंत्रता की तरफदार राजनीतिक-सामाजिक शक्तियों तथा हिंदुस्तान का सम्राट होने के अकबरी दावों को चुनौती देने वाले नस्लीय टकरावों का जिक्र नहीं करते। फलस्वरूप उस युग के तरह-तरह के टकरावों की गहराई, परिमाण और तीव्रता का प्रतिबिंबन उनके लेखन में नहीं हो पाता।

हालांकि अबुल फजल इस्लाम धर्म पर आधारित राज्य की संकल्पना काफी मजबूती से पेश करते हैं, परंतु साथ ही उनके विचारों में हमें धर्मनिरपेक्षता और हिंदू धर्म की प्राचीन दार्शनिक-धार्मिक प्रणालियों, उनके रीति रिवाजों और रहन सहन में उनकी दिलचस्पी के विषय महत्वपूर्ण रूप से दिखाई देते हैं। बरनी के पश्चात हिंदू धर्म और समाज को एक समुचित परिप्रेक्ष में समझने का प्रयास करने वाले वे पहले व्यक्ति थे। जब अबुल फज़ल रुढ़िवादी इस्लामी या हिंदू विचारों की आलोचना करते हैं और नए विवेक संगत विचारों का समर्थन करते हैं तब आधुनिकीकरण व पुनरुत्थानवाद की झलक भी हमें उनमें नजर आती है, जो सुधारवादी नजरिए की प्रतीक है। इस प्रकार अबुल फजल के विचार हालांकि अकबर की तरफ झुके हुए हैं, किंतु फिर भी बुद्धिवाद, धर्मनिरपेक्षता, सहिष्णुता, आधुनिकता तथा सुधारवाद उनके विचारों में शामिल रहा है, जो हमें उनका अध्ययन करने तथा राजनीति विज्ञान में एक विशेष स्थान देने की प्रेरणा देता हैं। निसंदेह अबुल फज़ल मध्यकालीन भारतीय इतिहासकारों में एक महत्वपूर्ण व्यक्ति के रूप में उभरते हैं।

4.3.5. पाठसार/ सारांश

ज़ियाउद्दीन बरनी एवं अबुल फज़ल मध्यकालीन राजनीतिक इतिहास जानने के लिए सबसे विश्वसनीय स्रोत है। जहाँ बरनी ने सल्तनतकालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवस्था पर प्रकाश डाला वहीं उसने राज्यशिल्प और शासन की नीति पर भी अपने विचार व्यक्त किए है जो भारतीय राजनीतिक दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण है। बरनी ने अपनी रचनाओं फतवा-ए-जहाँदारी और तारीख-ए-फिरोजशाही में आदर्श शासक का सिद्धांत प्रस्तुत करते हुए सुल्तान को साम्राज्य को संगठित करने, राजशक्ति को जनहित में लगाने, राजशक्ति के लिए

[40] हसन, मोहिबुल, पूर्वोक्त, पृ. 141-142

वैधता और लोकप्रियता प्राप्त करने के उपाय भी बताए हैं। इस्लाम और शरियत आधारित शासन एवं कानून व्यवस्था की वकालत के बावजूद वह जवाबित अर्थात् राज्य निर्मित कानूनों की आवश्यकता पर भी बल देता है। वह धर्म को राजनीतिक उद्देश्य की प्राप्ति के रूप में देखता है। उसकी राज्य की अवधारणा इस्लामिक होते हुए भी आधुनिक कल्याणकारी व प्राकृतिक राज्य के विचार से युक्त है।

दूसरी ओर मुगल साम्राज्य खासकर अकबर का काल जो मध्यकालीन राजनीतिक इतिहास का महत्वपूर्ण हिस्सा है, को जानने में अबुल फज़ल के विचारों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। 'अकबरनामा' व आइन-ए-अकबरी मुगल कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाओं का अधिकारिक ज्ञान प्रदान करता है। अकबर की नीतियों के निर्माण और उनके क्रियान्वयन में फज़ल का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। अबुल फज़ल के सुलह-ए-कुल यानि सहिष्णुता और सर्वत्र शांति के सिद्धांत के प्रभाव के रूप में ही अकबर ने दीन-ए-इलाही और सर्व धर्म समभाव की नीतियाँ लागू की। मध्यकालीन इन दोनों विचारकों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है की सैद्धांतिक रूप से भले ही मध्यकालीन शासन इस्लाम के सिद्धांतों पर संचालित होती दिखाई देता है पर व्यावहारिक रूप से हिंदू बहुलता वाले देश में ये संभव ही नहीं, और उस समय के शासकों भी ये बात समझते थे अतः अपवादों को छोड़ दिया जाय तो उस समय हिंदू मुस्लिमों के बीच सामंजस्य की स्थिति थी। राजनीतिक एवं प्रशासनिक क्षेत्रों से ज्यादा सामाजिक व सांस्कृतिक क्षेत्रों में हिंदू-मुस्लिमों के बीच सहयोग और सम्मिश्रण अधिक दिखाई देता है। भक्ति और सूफी संतों द्वारा दोनों धर्मो के बीच सौहार्द व भाईचारे के विचार को स्थापित किया गया, जिससे एक हिंदुस्तानी संस्कृति का विकास हुआ जो इस युग की अनमोल देन है।

4.3.6. अभ्यास/ बोध प्रश्न

4.3.6.1. बहुविकल्पीय प्रश्न

1. **बरनी किस सुल्तान के दरबार में कार्यरत था?**
   - **(अ)** कुतुबुद्दीन ऐबक
   - **(ब)** मुहम्मद बिन तुगलक़
   - **(स)** अल्लाउद्दीन खिलज़ी
   - **(द)** फ़िरोज़ तुगलक़
2. **इनमें से कौन-सी रचना बरनी की है?**
   - **(अ) तारीख-ए-फिरोजशाही**
   - **(ब) फतवा-ए-जहाँदारी**
   - **(स) अ और ब दोनों**
   - **(द) इनमें से कोई नहीं**

3. **ज़वाबित का अर्थ है-**
   (अ) राज्य निर्मित कानून
   (ब) फतवा
   (स) शरीयत आधारित कानून
   (द) क़ुरान के नियम
4. **'आईने अकबरी' कितने भागों में विभाजित है?**
   (अ) चार
   (ब) छह
   (स) आठ
   (द) पाँच
5. **अकबर ने 1580 में साम्राज्य को कितने सूबों में विभाजित कर दिया?**
   (अ) दस
   (ब) बारह
   (स) पंद्रह
   (द) बीस

4.3.6.2. लघु उत्तरीय प्रश्न

1. बरनी के विचारों के विकास में किन तत्वों की महत्वपूर्ण भूमिका थी?
2. बरनी ने आदर्श शासक के क्या गुण बताए हैं?
3. संप्रभुता पर अबुल फज़ल के विचार बताइए?
4. मनसबदारी प्रथा पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए?
5. मध्यकालीन राजनीतिक चिंतन प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

4.3.6.3. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. राज्य एवं आदर्श शासक के विषय में बरनी के विचारों का आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
2. कानून एवं न्याय व्यवस्था पर बरनी के विचारों का विश्लेषण कीजिए।
3. मुगल कालीन प्रशासनिक व्यवस्था का परीक्षण कीजिए।
4. 'अबुल फज़ल धार्मिक सहिष्णुता में विश्वास रखते थे'। इस कथन के प्रकाश में फज़ल के धार्मिक विचारों का मूल्यांकन कीजिए।
5. मध्यकालीन राजनीतिक चिंतन में बरनी एवं फज़ल के योगदान का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

4.3.7. कठिन शब्दावली

फतवा-ए-जहाँदारी - फतवा का अर्थ है मुफ़्ती द्वारा किसी मामले में दी गई

राय और जहाँदारी का अर्थ है दुनियादारी, अत: फतवा-ए-जहाँदारी का अर्थ है दुनियादारी के बारे में व्यक्त राय।

शरीयत - पैगंबर मुहम्मद का पथ। धार्मिक कानून जो इस्लाम के मुजताहिदो द्वारा बनाया जाता है।

ज़वाबित - राज्य द्वारा निर्मित कानून।

उलेमा - धर्म के विद्वान।

खिराज - भूमि कर जो अधीन प्रजा द्वारा चुकाया जाता था।

जज़िया - हिंदुओं पर लगाया जाने वाला कर

पादशाहत - सर्वोच्च एवं संप्रभु राजा जिसे कोई अपदस्त नहीं कर सकता।

मनसबदार - मनसबदारी व्यवस्था एक विशिष्ट प्रशासनिक व्यवस्था थी जो मुगल साम्राज्य की सैन्य व नागरिक सेवाओं तथा मुगलकालीन अमीर वर्ग 'उमरा' के संगठन का मूलाधार थी, जिसका प्रचलन अकबर द्वारा किया गया था। मनसब का शाब्दिक अर्थ है - पदवी, गौरव या प्रतिष्ठा।

सुलह-ए-कुल - सर्वत्र शांति का सिद्धांत जो सभी धर्मों की अच्छाई में विश्वास रखता है।

अमीरुल मोमिनीन - इस्लाम में दृढ़विश्वास रखने वालो को मोमिन कहा जाता है, अकबर को ऐसे विश्वासी मुसलमानों (मोमिनों) के नायक यानि अमीरुल मोमिनीन की उपाधि दी गई थी।

4.3.8. संदर्भ ग्रंथ-सूची

01. अप्पादोरॉय, ए., (2002), पॉलिटिकल थॉट्स इन इंडिया, दिल्ली, खामा पब्लिशर्स
02. अली, एम्. अतहर, (2006), मुगल इंडिया : स्टडीज इन पोलिटी, आइडियाज, सोसाइटी एंड कल्चर, न्यू देल्ही, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस
03. उपाध्याय, ओंकार नाथ, (1992), अकबर तथा जहाँगीर के अंतर्गत हिंदू उमरा वर्ग, आगरा, वाई.के. पब्लिशर्स
04. कमला, (2016), 'अबुल फज़ल : राजतंत्र', त्यागी, रूचि (सं.), *प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत का राजनीतिक चिंतन : प्रमुख परंपराएँ एवं चिंतन*, दिल्ली, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय
05. कुमार, सुनील, (2016), 'ज़ियाउद्दीन बरनी', अजय कुमार और इस्लाम अली (सं.), *भारतीय राजनीतिक चिंतन : संकल्पनाएं एवं विचारक*, दिल्ली, पिएर्सन

06. कुरैशी, आई. एच., (1979), द एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ द सल्तनत ऑफ देल्ही, पटना, ओरिएंटल बुक
07. डे, यू.एन., (1994), दी मुगल गवर्नमेंट, 1556-1707 ए.डी., नयी दिल्ली, मुंशीलाल मनोहरलाल पब्लिकेशन
08. त्यागी, रूचि, (2016), *प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत का राजनीतिक चिंतन : प्रमुख परंपराएँ एवं चिंतन*, दिल्ली, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय
09. नागोरी, एस. एल. और नागोरी, कांता, (2002), भारत के प्रमुख इतिहासकार, जयपुर, सबलाइम पब्लिकेशन्स
10. पांडे, ए.बी., (1960), अर्ली मिडीवल इंडिया, इलाहाबाद, सेंट्रल बुक डिपॉट
11. पांडे, ए.बी., (1960), प्रारंभिक मध्यकालीन भारत, इलाहाबाद, केंद्रीय पुस्तक विभाग
12. महाजन, विद्याधर, (1970), मुस्लिम-कालीन भारत, दिल्ली, एस. चाँद एंड कंपनी
13. मेहता, वी. आर., (2008), फाउंडेशन ऑफ इंडियन पॉलिटिकल थॉट, दिल्ली, मनोहर पब्लिशर्स
14. यादव, सुषमा और शर्मा, राम अवतार, (2000), भारतीय राज्य उत्पत्ति एवं विकास, दिल्ली, आकार पब्लिकेशन्स
15. रिज़वी, सय्यद अतहर अब्बास, (1956), *आदि तुर्ककालीन भारत*, अलीगढ़, इतिहास विभाग अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय
16. रॉय, हिमांशु और आलम, मुजफ्फ़र, (2017), 'ज़िया बरनी : गुड सुल्तान एंड आइडियल पोलिटी', महेंद्र प्रसाद सिंह और हिमांशु रॉय (सं.), *इंडियन पोलिटिकल थॉट* : थीम्स एंड थिंकर्स, नई दिल्ली, पीयेर्सन इंडिया
17. वर्मा, रामचंद्र, (1967), अकबरी दरबार, भाग-3, वाराणसी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा
18. वर्मा, हरिश्चंद्र, (1993), मध्यकालीन भारत, खंड-2, दिल्ली, दिल्ली विश्वविद्यालय
19. सतीश चन्द्र, (2007), मिडिवल इंडिया; फ्रॉम सल्तनत टू द मुग़ल्स, मुगल इम्पायर (1526-1748), पार्ट II, न्यू देल्ही, हर आनन्द पब्लिकेशन
20. सरकार, जे.एन., (1984), मुगल पोलिटी, दिल्ली, इदारा-ए-अदबियात-ए-दिल्ली
21. हबीब, इरफ़ान (सं.), (1999), मध्यकालीन भारत, खंड- चार, नयी दिल्ली, राजकमल प्रकाशन
22. हबीब, इरफ़ान, (1980), 'बरनी'स थ्योरी ऑफ द हिस्ट्री ऑफ द देल्ली सल्तनत', *इंडियन हिस्टोरिकल रिव्यु*, वॉल्यूम VII, न. 1, जुलाई
23. हबीब, इरफ़ान, (1995), एसेज इन इंडियन हिस्ट्री, नई दिल्ली, तूलिका प्रकाशन

24. हबीब, मुहम्मद, (1955), *खिलजी कालीन भारत (तारीखे फ़िरोज़शाही)*, अलीगढ़, इतिहास विभाग अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय
25. हबीब, मोहम्मद और खान, अफसर उमर सलीम, (1997), द पॉलिटिकल थ्योरी ऑफ द देल्ही सल्तनत, इलाहाबाद, किताब महल
26. हबीब, मोहम्मद, (1961), दिल्ली सल्तनत का राजनीतिक सिद्धांत, दिल्ली, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन
27. हबीबुल्ला, ए.बी.एम्., (1976), द फाउंडेशन ऑफ मुस्लिम रुल इन इंडिया, इलाहाबाद, सेंट्रल बुक डिपोट
28. हसन, मोहिबुल, (1983), हिस्टोरियन ऑफ मिडिवल इंडिया, न्यू देल्ही, मीनाक्षी पब्लिकेशन

इकाई-4 : कबीर का एक समन्वयवादी विचारक के रूप में राजनीतिक चिंतन

इकाई की रूपरेखा :

4.4.1. उद्देश्य कथन
4.4.2. प्रस्तावना
4.4.3. कबीर (1398-1448)
4.4.3.1. कबीर का जीवन काल
4.4.3.2. कबीर के विचारों का विकास एवं रचनाएँ
4.4.3.3. कबीर के राजनीतिक विचार
4.4.3.4. कबीर के सामाजिक विचार
4.4.3.5. आर्थिक व्यवस्था के विषय में कबीर के विचार
4.4.3.6. कबीर एक समन्वयवादी के रूप में
4.4.3.7. कबीर का मूल्यांकन
4.4.4. पाठसार/ सारांश
4.4.5. अभ्यास/बोध प्रश्न
4.4.5.1. बहुविकल्पीय प्रश्न
4.4.5.2. लघु उत्तरीय प्रश्न
4.4.5.3. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
4.4.6. संदर्भ ग्रंथ-सूची

4.4.1. उद्देश्य कथन

यह इकाई मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन के प्रमुख समाज सुधारक एवं संत कबीर के राजनीतिक विचारों पर प्रकाश डालती है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

1. कबीर के विचारों के अध्ययन से मध्ययुगीन सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्थाओं को समझ सकेगें।
2. हिंदू मुस्लिम संस्कृति के मेल से भारतीय समाज में आये परिवर्तनों एवं और प्रभावों का विश्लेषण कर सकेगें।
3. समन्वय का संदेश कबीर के व्यक्तित्व का यही सार्थक पर्याय हैं। कैसे कबीर समाज को समन्वय का पाठ पढ़ाते है, इस को जानना रुचिकर होगा।
4. कबीर को हमेशा एक कवि और संत के रूप में जाना गया है, परंतु उनके राजनीतिक चिंतन पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। अतः यह बहुत जरूरी है कि हम इस बात पर

चर्चा करें कि राजनीति विज्ञान के छात्रों को कबीर को जानने की क्या अवश्यकता है? और एक राजनीतिक चिंतक के रूप में कबीर का अध्ययन क्यों और कैसे किया जाए?

4.4.2. प्रस्तावना

भारतीय चिंतन 'अनेकता में एकता' के सिद्धांत को साकार रूप प्रदान करता है। वैदिक विश्व-दृष्टि, उपनिषदों का दर्शन, बौद्ध, जैन, सिख, इस्लाम एवं ईसाई धर्मों का सम्मिश्रण इसका उदाहरण है। प्राचीन, मध्ययुगीन एवं आधुनिक भारत में अनेक भिन्नताओं के होते हुए भी व्यवहार, दायित्व, जाति, लौकिक-प्रक्रिया, न्याय तथा राज्य के सिद्धांतों में पर्याप्त समानता और निरंतरता पाई जाती है। इस्लाम के आगमन से भिन्नताएँ एवं विरोधाभास उत्पन्न हुए किंतु मध्यकाल के भक्तिकालीन कवियों व संतों तथा सूफी विचारकों ने सूफी एवं भक्ति परंपराओं द्वारा समन्वय, सहयोग व एकीकरण के प्रयास किए जिसके फलस्वरूप एक समन्वयवादी हिंदुस्तानी संस्कृति का विकास हुआ। चाहे वे चिश्ती, अल्वी अथवा बेक्ताशी की सूफी परंपरा हो या उत्तर में रामानंद, रविदास, सूरदास, कबीर और दक्षिण में अन्नमाचार्य, त्यागराज इत्यादि की भक्ति परंपरा, सभी ने रूढ़ियों, अंधविश्वासों और जात-पात के भेद भुलाकर समाज के नवनिर्माण का संदेश दिया।

इन मध्यकालीन विचारकों में कबीर का एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। कबीर एक संत, समाज सुधारक एवं एक राजनीतिक चिंतक के रूप में हमारे सामने आते हैं। कबीर ने न केवल अपने युग के लोगों को प्रभावित किया, बल्कि आज भी उनका प्रभाव हमें स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। अपने समकालीन एवं आधुनिक युग के विभिन्न विचारकों पर इनका प्रभाव पड़ा। डॉ आंबेडकर ने अपने तीन गुरु माने थे, जिनमें कबीर उनके पहले गुरु हैं। स्पष्ट है कि कबीर ने उनको गहराई से प्रभावित किया था।[41] भारतीय गंगा जमुनी तहजीब जो हिंदुस्तान की पहचान बन कर हमारे सामने आती है उसके निर्माण में कबीर और उनके समकालीन भक्ति संतों तथा सूफी संतों का बहुत बड़ा योगदान रहा है। कबीर ने तत्कालिक समाज को आध्यात्मिक, धार्मिक, दार्शनिक एवं साधना के स्तर पर जीवन के समन्वय का संदेश दिया।

'समन्वय का संदेश' कबीर के व्यक्तित्व का सार्थक पर्याय हैं। अपनी इसी विशिष्टता की वजह से वह सहस्राब्दी के प्रथम संक्राँति पर्व के नायक बने। हाँ यह अलग बात है कि महात्मा कबीर के समन्वय का ढंग भी उनके अनुरूप ही निराला था। अपने इस समन्वय के लिए उन्होंने कभी भी किसी पक्ष के दोष-दुर्गुणों को, उसके अवगुणों को या कमियों को छिपाया नहीं, बल्कि उन्होंने बेबाक़ फक्कड़पन से इन सबको तार-तार कर डाला। रुई की तरह समाज के सभी वर्गों

[41] भारती, कँवल, (2017), कबीर के निर्गुणवाद से प्रभावित थे डॉ. अम्बेडकर, *फॉरवर्ड प्रेस*, ऑनलाइन मैगज़ीन, 1 जुलाई, पृ. 1, www.forwardpress.in/Kabir-ke-nirgunwad-se-prabhavit-ambedkar/ से उद्धृत

को धुनकर रख दिया। एक सच्चे जुलाहे की भाँति गुणों (धागों) को उकेरा-निकाला और फिर अपनी अद्भुत रीति से समन्वय-सद्भाव की चादर बनाई।[42] कबीर ने न केवल जीवन के आध्यात्मिक व दार्शनिक स्तर पर तत्कालीन जीवन को समन्वय का पाठ पढ़ाया, बल्कि उसी प्रकार जीवन के व्यावहारिक स्तर पर भी अंतर्विरोधों को मिटाने वाला समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रदान किया। एक ओर सत्ता लोलुप भोगविलास में लिप्त सुल्तान, राणाओं सहित सभी कुलीन वर्गीय राजाधिकारियों को दंभ व दमन से हटकर दीन-दुखियों के प्रति दयालु रहने का संदेश दिया तो दूसरी ओर पीड़ित-शोषित, निर्धन जनमानस को भी कर्म, भक्ति तथा सत्संग का निर्भीक रास्ता दिखाया। आगे के पृष्ठों में कबीर के राजनीतिक चिंतन एवं एक समन्यवादी विचारक के रूप में उनकी भूमिका एवं योगदान की चर्चा की जाएगीं।

4.4.3. कबीर (1398-1448)

आमतौर से कबीर पर कवियों और कुछ मध्यकालीन इतिहासकारों ने थोडा बहुत लिखा हैं, किंतु उनका लेखन ऐतिहासिक, धार्मिक अथवा साहित्यिक दृष्टिकोण पर आधारित है। कबीर के राजनीतिक दृष्टिकोण पर ज्यादा नहीं लिखा गया है, परंतु कवियों के भी अपने राजनीतिक विचार होते हैं और उस समय के कवियों के भी अपने राजनीतिक विचार थे। उस समय भी शंकरदेव, बासप्पा, बस्वन्ना, दादू, नानक, रजब, तुलसी और कबीर जैसे संत, कवि और समाज सुधारक थे, जिन्होंने तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक मुद्दों पर गहन चिंतन किया, परंतु उनके विचारों के इस पहलू पर बहुत ध्यान नहीं दिया गया। अतः इन संतों-दार्शनिकों के विचारों के इस पक्ष का अध्ययन अत्यंत रोचक और लाभदायक सिद्ध होगा खासकर कबीर के विचारों का जिसमें बहुत ही प्रगतिशील चिंतन का दर्शन होता है। मध्यकालीन युग में कबीर का महत्व इसलिए भी बढ़ जाता है, क्योंकि उन्होंने जिस प्रकार की कविता की और जिस तरीके से वह सबको साथ लेकर चलने की, खासकर जो गरीब बहुजन समाज को साथ लेकर चलने की कोशिश की, उनकी सोच को आवाज दी। उससे समाज परिवर्तन का एक नया दृष्टिकोण जिसे आज सबाल्टर्न विचारधारा कहते हैं, कबीर उसके प्रवर्तक के रूप में सामने आते हैं। मध्ययुगीन काल में कबीर लैंगिक समानता की बात कर रहे हैं, एक ऐसे समतावादी समाज की बात करते हैं, जहाँ आर्थिक समानता होगी, करमुक्त व्यवस्था होगी। कबीर का राज्यविहीन-वर्गविहीन-जातिविहीन आदर्श समाज, जिसे वे बेगमपुरा की संज्ञा देते हैं, की अवधारणा रामराज्य या आदर्श राज्य की संकल्पना है। वास्तव में ये विचार अत्यंत ही प्रगतिशील और आधुनिक है और वे जाति या धर्म से ऊपर उठकर एक समतावादी और समन्वयवादी आदर्श समाज की परंपरा को आगे ले जाने का प्रयास कर रहे थे। कबीर ने मज़हब, जाति या वर्ग पर आधारित भेद-भाव और ऊँच-नीच का पूर्ण

[42] शर्मा, श्रीराम, (2000), 'युगनायक कबीर का समन्वय सन्देश', *अखण्ड ज्योति*, अंक - 2, फ़रवरी, पृ. 11-12, http://literature.awgp.org/akhandjyoti/2000/February/v2.8 से उद्धृत

विरोध करते हुए, बाह्य आडंबरों को समूल उखाड़ फेकने का संदेश दिया। राजकीय सत्ता, अर्थिक संपन्नता, सामाजिक प्रतिष्ठा एवं धार्मिक रिवाज़ों को तुच्छ समझते हुए व्यक्ति को आत्मीय चेतना और आंतरिक ब्रह्म को पहचानने के लिए प्रेरित किया, जिससे मानवीय समानता, एकता एवं प्रतिष्ठा को कायम किया जा सके। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कबीर ने भक्ति, प्रेम और सदाचरण से युक्त निर्भीक सत्संगी संगठन का रास्ता दिखाया। अतः कबीर के राजनीतिक विचारों की चर्चा करना अत्यंत आवश्यक हो जाता है।

कबीर के विचारों पर विस्तार से चर्चा करने से पहले उनके जीवन एवं कृतियों को जानना रोचक तथा लाभदायक होगा।

4.4.3.1. कबीर का जीवन काल

कबीर पंद्रहवीं सदी के कवि और विचारक हैं। कबीर की जन्म तिथि और मृत्यु तिथि दोनों ही पर्याप्त विवाद के विषय हैं। इस संबंध में विचारों में काफ़ी मतभेद रहा।[43] वस्तुतः कबीर को सुल्तान सिकंदर लोधी (15वीं शताब्दी) का समकालीन माना जाता है। कुछ विद्वान कबीर का काल 1398 से 1518 तो कुछ 1398 से 1448 मानते हैं किंतु अधिकांश विद्वानों में सन 1440 से 1518 के काल पर सहमति पाई जाती है।[44]

कबीर के जन्म के संबंध में कुछ किवदंतियां प्रचलित है। एक धारणा के अनुसार कबीर का जन्म काशी के मुस्लिम बुनकर परिवार में हुआ था, जबकि दूसरी धारणा के अनुसार एक ब्राह्मण विधवा ने जन्म के बाद बालक कबीर को टोकरी में रख एक तालाब में छोड़ दिया था और वाराणसी के मुस्लिम बुनकर जोड़े ने उनका लालन-पालन किया था। वस्तुतः कबीर निम्नवर्गीय जुलाहा जाति से थे, जो उस समय की अछूत जाति थी। कबीर के समय में मुस्लिम सल्तनत कायम हो चुकी थी। इस्लाम ने शूद्र-अतिशूद्रों के लिए बंद दरवाजे खोल दिए थे। उनके मदरसों में दलितों के लिए कोई पाबंदी नहीं थी। दूसरी ओर सूफियों के मुहब्बत और बराबरी के व्यवहार से प्रभावित होकर पीड़ित जातियाँ इस्लाम में दीक्षित हो रही थीं। किंतु, दूसरी ओर इस्लाम से हिंदूधर्म को बचाने के लिए ब्राह्मणों की प्रतिक्रांति की भी तीव्र धारा चल रही थी। इस्लाम की प्रतिक्रांति में, 11वीं सदी में आदि शंकराचार्य ने जो अद्वैतवाद का दर्शन खड़ा किया था, उसने 14वीं-15वीं सदी में एक विशाल वैष्णव भक्ति सम्प्रदाय का नया अवतार धारण कर लिया था। इसके संस्थापक रामानुज थे। इन्हीं के एक शिष्य रामानंद, दलित जातियों को वैष्णव

---

[43] ऑमवेट, गेल, (2008), *सीकिंग बेगमपुरा : द सोशल विज़न ऑफ़ एंटी-कास्ट इंटेलेक्चुअल*, दिल्ली, नारायण पब्लिकेशन्स, पृ. 93

[44] राय, हिमांशु, (2007), पोलिटिकल आइडियाज ऑफ़ कबीर, महेंद्र प्रताप सिंह एवं हिमांशु राय (सं.) *इंडियन पोलिटिकल थॉट* : थीम्स एंड थिंकर्स, II एडिशन, नई दिल्ली, पियर्सन, पृ. 95

बनाने के लिए दक्षिण से आकर उत्तर भारत के, काशी में बस गए थे। उन्होंने इस्लाम में दलित जातियों के धर्मांतरण को रोकने के लिए दलित जातियों, विशेष रूप से चांडालों को राम-राम का मंत्र देकर वैष्णव बनाया।[45] कबीर इन्हीं रामानंद को अपना गुरु मानते हैं।

कबीर के समय में सत्ता के दो केंद्र थे– एक मुल्ला और दूसरा पंडित। दोनों ही अपने-अपने समुदाय के निर्विवाद धर्मगुरु थे। उनके विरुद्ध बोलने या उनसे सवाल करने का किसी जनता में साहस नहीं था। कबीर देख रहे थे कि पंडित और मुल्ला किस तरह धर्म के नाम पर वर्णव्यवस्था, अस्पृश्यता, हज, पूजा, नमाज, तीर्थ और परलोक का पाखंड लोगों में भर रहे थे, तथा इसकी आड़ में सामंत, साहूकार और व्यापारी उनका आर्थिक शोषण करके उनका जीवन नर्क बनाए हुए थे। कबीर साफ़-साफ़ देख रहे थे कि मुल्ला-पंडित समाज की सत्ताधारी भौतिक शक्ति के साथ-साथ जनता की बौद्धिक शक्ति भी थे। इसलिए कबीर ने इस बात को अच्छी तरह समझ लिया था कि जनता के बौद्धिक नेतृत्व के लिए एक तीसरी बौद्धिक धारा को प्रवाहित करना होगा। यह तीसरी धारा आँखों देखी थी। कबीर ने दोनों से संवाद किया, पर उनका संवाद न मुल्ला को पसंद आया था और न पंडित को। इसलिए, कबीर ने 'न-हिंदू-न-मुसलमान' के सिद्धांत को अपनाया और मुल्ला-पंडित को नकारते हुए जनता का क्रांतिकारी नेतृत्व किया। कबीर ने वेद-पुराण और कुरआन के विरुद्ध समाज को देखने और धर्म के मूल्यांकन का अपना अलग ही सौंदर्यशास्त्र विकसित किया। उन्होंने कहा था - 'हमरा झगरा रहा न कोऊ, पंडित मुल्ला छोड़े दोऊ'।[46] कबीरदास निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। उनका मत था कि ईश्वर समस्त संसार में व्याप्त है। उन्होंने ब्रह्म के लिए राम, हरि आदि शब्दों का प्रयोग किया, परंतु वे सब ब्रह्म के ही पर्यायवाची हैं। उनका मार्ग, ज्ञान मार्ग था। इसमें गुरु का महत्व सर्वोपरि है। कबीर स्वच्छंद विचारक थे।

कबीरदास की मृत्यु स्थान के विषय में भी लोगों में मतभेद है। भिन्न-भिन्न लोग पुरी, मगहर और रतनपुर (अवध) में इनकी मृत्यु हुई मानते हैं, परंतु अधिकांश विद्वान मगहर को ही इनका मृत्यु स्थान मानने के पक्ष में हैं। इनकी मृत्यु सन 1518 ई० मानी जाती है।

4.4.3.2. कबीर के विचारों का विकास एवं रचनाएँ

कबीरदास ने अपना सारा जीवन ज्ञान, देशाटन और साधु संगति से प्राप्त किया। ये पढ़े-लिखे नहीं थे, परंतु दूर-दूर के प्रदेशों की यात्रा कर साधु-संतों की संगति में बैठकर संपूर्ण धर्मों तथा समाज का गहरा अध्ययन किया। अपने इस अनुभव को इन्होंने मौखिक रूप से कविता में लोगों को सुनाया। कबीरदास का जन्म ऐसे समय में हुआ था जब कि हमारे देश में चारों तरफ अशांति और अव्यवस्था का बोलबाला था। विदेशी आक्रमणों से देश की जनता पस्त थी। अनेक

[45] भारती, कँवल, पुर्वोक्त, पृ. 2

[46] सुन्दरदास, श्याम, (1977), *कबीर ग्रंथावली*, काशी, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ. 206

धर्म और मत-मतांतर समाज में प्रचलित थे। आर्थिक दशा बड़ी दयनीय थी। ऐसे कठिन समय में जन्म लेकर इस युग दृष्टा महान संत ने देश की जनता को एक नया ज्ञान का ज्योतिर्मय मार्ग दिखाया।

मध्ययुगीन धार्मिक साहित्य गीत, कविता के रूप में गाया जाता था और गाते बजाते हुए जनमानस में लोकप्रिय हो जाता था। कबीर की वाणी भी लोगों की जुबान पर पीढ़ी दर पीढ़ी प्रचलित रही। कबीर की कृतियों का संकलन भी एक कठिन कार्य रहा है। ऑमवेट ने इन्हें चार प्रमुख भागों में वर्गीकृत किया है जिसमें कबीर के भिन्न स्वरूप उभरते हैं।

पहला, देश के पश्चिमी प्रांत पंजाब में प्रकाशित गुरु ग्रंथ अथवा आदि ग्रंथ के संकलन में कबीर का निर्गुण भक्ति एवं निराकार ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण झलकता है।

दूसरा, राजस्थानी संग्रह पंचवाणी में दादू पंथ के पंच संतों की वाणी का संग्रह मिलता है। इसमें कबीर का उल्लेख कृष्ण भक्त सगुण संत के रूप में मिलता है।[47]

तीसरा, पूर्वी क्षेत्र के बीजक संकलन में कबीर धार्मिक प्रतिक्रियावादी एवं दार्शनिक के रूप में उभरते हैं। यहाँ एक गुरु के रूप मे कबीर व्यक्ति को देह, परिवार, मन की माया-मोह से मुक्त करना कहते हैं और मानव मात्र को जागृति का संदेश देते हैं।

चौथा, पश्चिम में प्रचलित कबीर की वाणी, 1900 के प्रारंभिक वर्षों के बंगाली संकलन पर आधारित टैगोर के अनुवादित संग्रह (1915 में प्रकाशित) तथा रॉबर्ट ब्लॉय के अनुवाद के रूप में संगृहीत हैं। इसमें वे एक समर्पित भक्त के रूप में उभरते हैं।[48]

मुख्यतः कबीर की रचनाएँ आदिग्रंथ, पंचवाणी, सर्वांगी, बीजक एवं ग्रंथावली में संकलित तथा संदर्भित हैं, जिसका प्रभाव आज भी सामाजिक व शैक्षणिक व्याख्यानों, लोक-परंपराओं और क्रांतिकारी अमलों पर दिखाई देता है। कबीर स्वयं पढ़ना-लिखना नहीं जानते थे, उनके विचारों का संकलन लंबे समय में भारत के विभिन्न क्षेत्रों के विद्वानों द्वारा किया गया। नतीजन, अलग-अलग स्रोतों में उनकी भाषा व सामग्री में अंतर दिखाई देता है। उदाहरण के लिए साखी की भाषा पर राजस्थानी व पंजाबी का प्रभाव दिखता है तो पदावली पर भोजपुरी की छाप है। इसके आलावा अन्य रचनाओं की तुलना में बीजक में सामाजिक व्यवस्था की आलोचना अधिक तीव्रता लिए हुए है। चूँकि कबीर की रचनाओं का संकलन उनकी मृत्यु के पचहत्तर वर्ष पश्चात आरंभ हुआ, अतः उनकी संकलित बानियों की प्रमाणिकता की गहन जाँच होनी चाहिए। क्षिति

---

[47] सिंह, सुखदेव एवं हैंस, लिंडा, (2001), *द बीजक ऑफ़ कबीर*, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, पृ. 6

[48] त्यागी, रुचि, (2016), 'कबीर : एक समन्वयवादी विचारक के रूम में', रुचि त्यागी (सं.) *प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत का राजनीतिक चिंतन : प्रमुख परम्पराएँ एवं चिंतक*, दिल्ली, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, पृ. 408

मोहन सेन, रविंद्रनाथ, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राज किशोर, पुरूषोत्तम अग्रवाल, इरफ़ान हबीब, डेविड लोरेज़ेन, अली सरदार जाफ़री, गेल ऑमवेट, नामवर सिंह आदि अनेक विद्वानों ने कबीर के विचारों का विभिन्न दृष्टिकोणों से गहन अध्ययन किया है।[49]

वस्तुतः कबीर स्थानीय धार्मिक परंपराओं एवं इस्लामी व्यवस्था के समन्वय तथा तज्जनित चुनौतियों से जूझते प्रतीत होते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर के नाथ-पंथी संबंधों को महत्व देते हुए कबीर को व्यक्तिवादी के रूप में दर्शाया है।[50] जबकि हॉवले का कथन है कि कबीर कृष्ण भक्ति परंपरा के प्रति समर्पित थे। ऑमवेट का आग्रह है कि यद्यपि कबीर संस्कृत के वेद, उपनिषद तथा अरबी कुरान को पढ़ने में असमर्थ थे, तथापि वह हिंदू मुस्लिम परंपराओं को भली भाँति समझते थे। वेदांतिक दर्शन, प्रचलित रीति-रिवाज़ों, पौराणिक अवतारों, नाथसिद्ध सांकेतिकताओं, बौद्ध एवं सूफी परंपराओं तथा इस्लामी मान्यताओं पर कबीर की गहरी पकड़ थी।[51] उन्होंने समाज में व्याप्त समस्त रूढ़ियों और आडंबरों का विरोध किया।

धार्मिक भेदभाव और कट्टरता के लिए हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को कबीर फटकारते थे। उनका कहना था कि धर्म या मजहब अन्याय, अत्याचार और हिंसा नहीं सिखाता, मजहब तो प्रेम और दया सिखाता है। दिनेश्वर प्रसाद[52] कबीर द्वारा समर्थित धर्मों के मूलभूत समन्वय को दर्शाते हुए कहते हैं कि ईश्वर मुसलमान और हिंदू में कोई भेद नहीं करता दोनों ही उसकी रचना है। कबीर की मान्यता थी कि राम-रहीम, केशव-करीम, ईश्वर-अल्लाह एक ही सत्य के अलग-अलग नाम है, बिस्मिल्लाह और विशवंभर भी एक ही हैं। मस्जिद और मंदिर में एक ही खुदा रहता है जो सर्वव्यापी है। कबीर की दृष्टि में धार्मिक मतभेद और टकराव धर्म के मूल स्वरूप की जानकारी न होने के कारण पैदा होते हैं। मूल धर्म एक ही है, जो पूजा उपासना के अलग-अलग तरीकों के कारण अलग-अलग धर्मों के रूप में दिखाई देता है। यदि धर्मों की मूलभूत समानता, एक स्रोत और एक लक्ष्य समझ में आ जाए तो धर्मों के समस्त झगड़े और हठ अपने आप समाप्त हो जाएंगे।[53] कबीर के विचार मानव मात्र की समानता एवं सद्भाव के सिद्धांत पर आधारित है।

4.4.3.3. कबीर के राजनीतिक विचार

---

[49] राय, हिमांशु, पुर्वोक्त, पृ. 105

[50] द्विवेदी, हजारी प्रसाद, (2000), *कबीर*, नई दिल्ली, राज कमल प्रकाशन, पृ. 142

[51] त्यागी, रुचि, पुर्वोक्त, पृ. 409

[52] प्रसाद, दिनेश्वर (2001), 'कबीर की समाज दृष्टि', राजकिशोर (सं.), *कबीर की खोज*, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ. 53-68

[53] प्रसाद, दिनेश्वर, पुर्वोक्त, पृ. 64

कबीर के राजनीतिक चिंतन पर चर्चा 15वीं शताब्दी के बनारस की पृष्ठभूमि में ही होना चाहिए, जो कुलीन व उच्च वर्गीय प्राधान्य की संस्कृति एवं विचारधारा से संचालित था। इस चर्चा का केंद्र इसके राज्य की संरचना, कराधान पद्धति, अभिजात्य वर्गीय प्रभुत्व, इसकी जाति, वर्ग, धर्म एवं लैंगिक विशेषताओं तथा विभिन्न सबाल्टर्न समूहों के विरोध आंदोलनों में स्थित होना चाहिए। यद्यपि उस समय अभिजात्य वर्ग द्वारा सबाल्टर्न सामाजिक समूहों के उर्ध्वाधर- एवं क्षैतिज गतिशीलता के खिलाफ़ प्रतिक्रिया व्यक्त की गई।[54] परंतु कबीर ने सामंतवादी प्रतिक्रिया और अभिजात्यवर्ग द्वारा किए जाने वाले भेदभाव की कठोर निंदा की। वस्तुतः कबीर का समग्र साहित्य, समग्र जीवन दर्शन भारत की एकता, अखंडता, प्रगति, जातीय समरसता, सर्व-धर्म समन्वय, सामाजिक न्याय और नवीन मानव मूल्यों के प्रतिपादन का अद्वितीय दस्तावेज़ है। कबीर की वाणी सामाजिक क्रांति का आह्वान है।[55] रामविलास शर्मा लिखते हैं कि कबीर और तुलसी दोनों ने जाति की संरचना को पार करके वर्गीय संरचना पर ध्यान केंद्रित किया है, जो उनकी रचनाओं एवं लेखन में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।[56]

कबीर के समकालीन समाज में इस्लामी सभ्यता का प्रभाव बहुत सशक्त था। स्वतंत्र सुल्तानों ने अपनी शक्ति का अच्छा विकास कर लिया था। उदाहरण के लिए, जौनपुर में फिरोज तुगलक, मालवा में खिलजी अमीर हुसुंगशाह, गुजरात में सूबेदार शाह ज़फर खाँ, अहमदाबाद में अहमद शाह, दक्षिण में दौलताबाद में हसन गंगू और बंगाल में फकरुद्दीन आदि ने अपने स्वतंत्र राज्यों की स्थापना कर ली थी। तैमूर के आक्रमण के उपरांत दिल्ली का शासन लोदी वंश के हाथ में चला गया। बहलोल खाँ लोदी ने देश को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया। किंतु इस समय मेवाड़ के राणा सहित राजपूतों के गढ़, बहमनी राज्य, गुजरात, मालवा, जौनपुर और बंगाल के बीच शक्ति संघर्ष एवं युद्ध काफी बढ़ गए थे।[57] ऐसा प्रतीत होता है कि बाबर के द्वारा मुगल साम्राज्य की स्थापना (1530) के पूर्व, संघर्ष और उथल-पुथल की पृष्ठभूमि में अपने विचार दे रहे थे। इसी पृष्ठभूमि में इस्लामी एवं ब्रम्हाणी रूढ़िवादियों ने कबीर का खंडन एवं अवहेलना की, किंतु कबीर आम लोगों में लोकप्रिय रहे। कुछ लोगों ने उन्हें सूफी भक्ति परंपरा के हिंदू सुधारक के रूप में स्वीकार किया तो कुछ समीक्षकों ने मुस्लिम प्रतिक्रियावादी के रूप में तथापि उपमहाद्वीप के नवीन मुस्लिम राज्य ने उन्हें कभी आत्मसात नहीं किया।

---

[54] राय, हिमांशु, (2015), 'एक्सप्लोरिंग पोलिटिकल आइडियाज ऑफ़ कबीर', *फ्रंटियर*, ऑटम न.,वॉल्यूम 48 (2) पृ. 14

[55] चंचरीक, कन्हैयालाल, (1999), *महात्मा कबीर : जीवन और दर्शन*, नई दिल्ली, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, पृ. 47

[56] शर्मा, रामविलास, (1996), भारतीय साहित्य की भूमिका, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. 120

[57] शर्मा, सरनाम सिंह, (2011), *कबीर : व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धांत (भाग-I)*, दिल्ली, कल्पना प्रकाशन, पृ. 176

राजनीतिक दृष्टि से कबीर का युग अस्थिरता और अशांति का युग था। बादशाह, सामंत, राजकीय कर्मचारी वर्ग, सत्ता का प्रयोग अपने ऐशो आराम और प्रजा को सताने के लिए करते थे। यह युग शासक और शासित, पोषक और पोषित, धनी व निर्धन के मध्य विभक्त था। कबीर ने इन असमानताओं एवं शोषण का खुलकर विरोध किया जिसकी वजह से कई बार उन्हें सत्ता का विरोध झेलना पड़ा।

कबीर के लिए मौजूदा सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था के विरोध के लिए भक्ति एक विकल्प और एक तकनीक थी, भक्ति इससे बचने का एक मार्ग भी था। कबीर अपने विचार में एक भक्त, एक जुलाहा और एक विद्रोही बने रहे। बेगमपुरा की अवधारणा उनकी चेतना और विद्रोही विचारों का एक प्रतिबिंब थी। बेगमपुरा ऐसे सार्वभौम समाज की अवधारणा पर आधारित था जहाँ पर किसी भी प्रकार की राजनीतिक, आर्थिक व मौलिक विभेद की गुंजाइश नहीं होगी। जो गरीबों एवं शोषितों के कल्याण पर आधारित होगा। कबीर और उनके भक्त इस काल्पनिक बेगमपुरा का प्रतिनिधित्व करने वाले विद्रोही थे जो उनकी वास्तविक इच्छा का प्रतिरूप था। अपने समय की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था को चुनौती देने वाली कबीर की विचारधारा सर्वाधिक उग्र परिवर्तन की वैकल्पिक समाज व्यवस्था थी। बेगमपुरा कबीर के विचारों का एक उपयुक्त आदर्श और लोकप्रिय या सामान्य इच्छा का प्रतिबिंब था।[58]

उनका राजनीतिक आदर्श, बेगमपुरा, ईश्वर का राज्य था। दुखों और कष्टों से मुक्त, निजी संपत्ति, कराधान, राजशाही और सामाजिक पदानुक्रम से रहित एक आदर्श ग्राम समाज था। यह बिना किसी डर, लालच, मेहरबानी, अपराध एवं अभाव व कमी के संतों की भूमि था। बेगमपुरा में जाति, धर्म और लिंग पर आधारित किसी प्रकार का शोषण और भेदभाव नहीं होगा। यह एक तार्किकता एवं मानवता पर आधारित समाज होगा। इसका अर्थ यह है कि इस राज्य में जन संप्रभुता एवं नागरिकों के बीच समानता होगी, जो सभी के लिए स्वतंत्रता के आदर्श में परिणित होगी।[59] बेगमपुरा का काल्पनिक आदर्श राज्य भक्ति के माध्यम से निर्मित होगा। भक्ति का अर्थ है सामूहिक भागीदारी और सांझेदारी, उस युग के सामाजिक विभाजन का अंत करने की यह सात्विक विधि थी। अतः इस आदर्श राज्य में निर्णय निर्माण एवं राजनीतिक एवं सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए जनता की सामूहिक भागीदारी होगी और यह आवश्यक रूप से प्रचलित सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था को पूरी तरह बदल देगी। एकेश्वरवाद के विचार ने इस अवस्था को पूर्वनिर्धारण किया जो सामाजिक परिवर्तन के वैचारिक अग्रदूत होगा और उसके मानने वाले विश्वासी भक्त बेगमपुरा के अग्रगामी रक्षक होगे। इस आदर्श राज्य में बिना किसी धार्मिक विभाजन और आतंरिक सोपानीय व्यवस्था के सभी को समान रूप से धार्मिक

[58] राय, हिमांशु, पुर्वोक्त, पृ. 16

[59] वही, पृ. 16

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता उपलब्ध होगी। यह खुद कबीर द्वारा व्यक्त समरूपता, समन्वय और भक्त के धर्म निरपेक्ष स्वरूप में प्रकट होती है।[60]

कबीर की बेगमपुरा की अवधारणा का उदभव उनके द्वारा तत्कालीन समाज, राज्य की संरचना, पुरोहित वर्ग और अभिजात्य वर्ग के साथ उनके संबंधों तथा निजी संपत्ति और आर्थिक संबंधों व सामाजिक विभाजन के गहन अवलोकन से जन्मा था। जिसका दर्शन हमें कबीर के राजस्व व्यवस्था, न्यायिक प्रशासन एवं शासन की आलोचनाओं में परिलक्षित होता है। राजस्व व्यवस्था की आलोचना करते हुए कबीर कहते हैं-

गाऊँ कु ठाकुरखेत कुनापै, काईथ खरच न पोर।
जोरि जेवरी खेति पसारै, सब मिलि मोकों मारे हो राम।
खोटो महतो विकट बलाही, सिरकस दम का पारे।
बुरौ दिवान दादि नहिं लागै, इकि बांधौ इक मारे हो राम।[61]

इसी प्रकार न्यायाधीशों की आलोचना करते हुए कहते हैं-

काज़ी तुम्हारे मन को राजसी बातें ही भाति हैं,
ईश्वर ने कभी अत्याचार की आज्ञा नहिं दी,
तू दीन से सहानुभूति नहिं रखता।[62]

इन दोनों ही मामलों में राज्य द्वारा गरीबों का उत्पीडन और उनके शोषण तथा अभिजात्य वर्ग से राज्य के संबंधों पर प्रकाश पड़ता है। यह प्रजा की असहाय स्थिति को भी दर्शाता है। कबीर उनकी रक्षा के लिए ईश्वर का आह्वान करते हैं। उनका बेगमपुरा एक काल्पनिक, आदर्श राजनीति और ईश्वरीय शासन है, जो राज्यविहीन है, जहाँ कोई अभिजात्य नहीं, कोई भ्रष्टाचार नहीं और कोई अधिशेष निकासी नहीं है। इसका आधार है- न्याय, समानता और स्वतंत्रता।[63]

सामाजिक और परंपरा के क्षेत्र में, इसका अर्थ था- मूर्ति पूजा और अवतारवाद के विचारों का खंडन करना। इसका तात्पर्य एकेश्वरवाद अथवा विभिन्न धार्मिक विभाजनों से परे एक ईश्वर का विचार भी था। कबीर ने जीवन की चार अवस्था (आश्रम व्यवस्था) और छह सिद्धांतों के विचार को भी नकारते हैं। यहाँ तक कि तप, उपवास या उपादान भी अस्वीकार कर दिया था। उनके लिए केवल ईश्वर ही इस 'साम्राज्य का शाश्वत सम्राट' था जिसे उन्होंने एक प्राचीन ऋषि

---

[60] वही, पृ. 17

[61] चौहान, शिवदन सिंह (1978), *कबीर का युग*, दिल्ली : पब्लिकेशन्स डिवीज़न, भारत सरकार, पृ. 63

[62] सिंह, नामवर (2001), 'कबीर का दुःख', राज किशोर (सं.), *कबीर की खोज*, नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 188

[63] राय, हिमांशु, (2015), पृ. 17

के साथ समरूप कर दिया। इसका अर्थ था राजाओं के दैवीय अवतार के रूप को नकारना और साथ ही सामाजिक सोपानीयकरण को भी नकारना था। संक्षेप में, यह एक साधारण प्रजा के द्वारा सांस्कृतिक-संरचनात्मक प्रभुत्व के खिलाफ़ एक उपक्रम था। खुले विद्रोह के विपरीत ये रोज़मर्रा के जीवन में किए जाने वाला एक गैर संस्थागत, अस्थिर और असंगठित विरोध था।

निश्चित रूप से कबीर का क्षेत्र राजनीति नहीं था और इतने छोटे तबके के व्यक्ति के लिए तत्कालीन राजनीति में प्रवेश करने के लिए कोई अवकाश भी नहीं था। फिर भी आसपास के वातावरण में जो कुछ घट रहा था कबीर उससे चिंतित एवं परेशान अवश्य थे। यद्यपि उन्होंने इस बात की चिंता नहीं की थी कि कौन सुल्तान है और कौन वजीर है, किंतु इस बात के लिए सचेत आवश्यक है कि इन लोगों का आचरण कैसा है, उनकी नीति का प्रजा पर क्या प्रभाव पड़ रहा है और इन लोगों के कारण समाज गिर रहा है या उठ रहा है।[64] संभवत कबीर के समय की राजसत्ता को प्रजा के कल्याण की चिंता नहीं थी।

वस्तुतः कबीर का राजनीतिक चिंतन लोककल्याण की भावना पर आधारित था। कबीर भ्रष्टाचारमुक्त, समानता पर आधारित एक न्यायपूर्ण एवं स्वतंत्र समाज की स्थापना करना चाहते थे जिसकी रूपरेखा बेगमपुरा की अवधारणा में उन्होंने प्रस्तुत की।

4.4.3.4. कबीर के सामाजिक विचार

कबीर साहित्य में जहाँ दर्शन, अध्यात्म, ज्ञान, वैराग्य की गूढ़ता मिलती है, वहीं उनके साहित्य में समाज सुधार का शंखनाद भी है। वह दार्शनिक होने के साथ ही समाज सुधारक भी थे। जन-जीवन का उत्थान कबीर के जीवन की साधना थी। सुधार के समन्वित स्वरूप की स्थापना के साथ उन्होंने भक्ति के आडंबरों पर चोट की, साथ ही अंधविश्वासों, रूढ़ियों, कुप्रथाओं, परंपराओं आदि पर भी खुल कर प्रहार किया, क्योंकि ऐसी परिस्थितियों में सबसे अधिक उत्पीडन साधारण जनता का ही होता है। जनसाधारण के उत्थान व उद्धार के लिए कबीर एक विराट समन्वय की चेतना लेकर आगे आए। कबीर ने पूरे साहस के साथ देश की दशा को भलीभाँति परखा और समाज में व्याप्त कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठायी। कबीर की सामाजिक चेतना का मुख्य प्रभाव आम आदमी की जिंदगी पर पड़ा। अपने धर्म को लोक मंगलकारी रूप में प्रस्तुत करके हिंदू-मुस्लिम धर्म व्यवस्था और पाखंड का बड़े उग्र स्वर में विरोध किया। कबीर ने हिंदू-मुस्लिम दोनों धर्मों के पाखंडी धर्म प्रचारकों को आड़े हाथों लिया।[65] कबीर ने परंपरा मान्यताओं को चुनौती दी और स्थापित व्यवस्था का विरोध करते हुए नई आचार संहिता दी जो मानवतावादी विचारधारा पर आधारित थी। उनका मानना था कि सामाजिक जीवन में उपजे दुःख

---

[64] शर्मा, सरनाम सिंह, पुर्वोक्त, पृ. 177

[65] गुप्ता, सरोज (2002), 'समानता के उद्घोषक', सुरेश आचार्य (सं.), *कबीर : हंसा कहौ पुरातन बात*, सागर, अमन प्रकाशन, पृ. 87

का कारण गैर बराबरी, ऊँच-नीच, जात-पात, छुआछूत और आर्थिक असमानता है। कबीर को वर्ग विभाजन स्वीकार नहीं, धर्म, जाति व अर्थ के आधार पर विघटित समाज का वह विरोध करते हैं। वे संप्रदाय, धर्म, जाति के बंधन और पाखंडों को ध्वस्त करके केवल मानवता के कल्याण का अलख जगाते हैं। हर संकीर्ण सामाजिक दीवार को तोड़कर मनुष्य जाति की एकता बनाए रखने का संदेश देते हैं। अगर राजनीतिक और आर्थिक मोर्चे पर सामान्य दमन था तो सामाजिक मोर्चे पर ब्राह्मणों का अत्याचार था। कबीर कालीन समाज में जाति के आधार पर ऊँच-नीच के भेदभाव मौजूद थे, नीची या निम्न समझी जाने वाली जातियों में से अनेक को अछूत समझा जाता था। अपनी यथास्थिति को बनाए रखने के लिए ब्राह्मणों ने जटिल अनुष्ठानों का जाल बुन दिया था। कबीर की मान्यता थी कि ईश्वर ने सभी जातियों की सृष्टि एक ही रूप में की है। जब कोई गर्भ में होता है तो उसकी कुल या जाति नहीं होती एक ही ब्रह्म बिंदु में सब की उत्पत्ति होती है। कबीर का कहना था कि जन्म के समय पूरी मनुष्य जाति एक जैसी होती है, जन्म के बाद उसे बनावटी ढंग से अलग-अलग जातियों में बाँट दिया जाता है। कबीर जाति व्यवस्था के भीतर पनपने वाले ऊँच-नीच के भेदभाव और छुआछूत का खंडन करते हैं। उनका कहना है कि यह भगवान के बनाए हुए न होकर ब्राह्मणों के दिमाग की उपज है, वे देवी देवता की पूजा के नाम पर जीव हत्या करते हैं और अपने को अच्छा साबित करने के लिए रीति रिवाजों का ढोल पीटते हैं। कबीर का विश्वास मनुष्य और मनुष्य की बराबरी के समाज में है। जब सभी मनुष्य ईश्वर के अंश है तो छोटा-बड़ा, ऊँचा-नीचा, अमीर-गरीब जैसे सभी भेद बेमानी है। यहाँ कबीर बराबरी के समाज में ही विश्वास नहीं रखते बल्कि उस बराबरी को सामाजिक व्यवहार में भी देखना चाहते हैं।[66] संभवतः इस्लाम के सामाजिक आदर्श ने, जहाँ खुदा की दृष्टि में सभी लोगों समान थे, उन उपेक्षितों को अवसर दिया जो ब्राह्मणवादी समाज में उपेक्षा एवं उत्पीडन का शिकार थे। उन्हें ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ खुलकर बोलने का अवसर मिला जो अब तक उन पर शासन करती आई थी। इरफ़ान हबीब का कहना है कि सामाजिक व्यवस्था के भीतर अपने जातीय बंधनों और अपनी निम्न हैसियत को लेकर एक दस्तकार की प्रथम संदेह की आहट कबीर की वाणी में सुनाई पड़ती है।[67]

कबीर ने अपने युग के समाज को देखकर वैचारिक निष्पत्तियों के रूप में जो कुछ व्यक्त किया, वही उनका जीवन दर्शन है। कबीर की सामाजिक चेतना को परखने के दो साधन है, एक तो वे सामाजिक विषय जिस पर उन्होंने खुले तौर पर अपने विचार प्रकट किए हैं, जैसे, वर्णाश्रम व्यवस्था, कर्म कांड, छुआछूत आदि। दूसरा, उनकी रचनात्मकता में व्यक्त विचारधारा

---

[66] त्यागी, रुचि, पुर्वोक्त, पृ. 414-415

[67] हबीब, इरफ़ान, (1978), 'इकॉनोमिक हिस्टरी ऑफ़ डेल्ही सल्तनत : एन एस्से इन इंटरप्रिटेशन', *इंडियन हिस्टोरिकल रिव्यु IV*, पृ. 297

एवं जीवन दृष्टि के अध्ययन से उनके जीवन मूल्यों को समझा जा सकता है।[68] अपनी साखियों के माध्यम से कबीर समाज को अनेक क्रांतिकारी विचार अत्यंत साधारण और सहज शब्दों में दे देते हैं। वास्तव में कबीर सामाजिक समानता एवं समरसता को बढावा देते हैं। वे एक ऐसे समाज की परिकल्पना प्रस्तुत करते हैं जो जातिविहीन, रूढ़ियो, आडंबरों, अज्ञानता एवं हिंसा से मुक्त, एकता और बराबरी के मूल्यों पर आधारित होगा और ऐसे समाज की रचना के लिए कबीर जो मार्ग बताते हैं वह भक्ति और प्रेम का मार्ग है।

4.4.3.5. आर्थिक व्यवस्था के विषय में कबीर के विचार

कबीर कालीन समाज में आर्थिक विभाजन बहुत असमान था। जागीरदार और अमीरों के पास सोना चाँदी एकत्र हो गया था और साधारण जनता के पास धन एवं साधन बहुत कम थे। सामान्यतया निम्न श्रेणी के लोगों की, विशेषकर हिंदू शूद्रों की दशा बड़ी शोचनीय थी। प्रजा करों की मार से दबी हुई थी। हिंदू लोग जजिया कर से भी पीड़ित थे। कृषि, व्यापार अथवा किसी भी आय पर कर लगता था। उपज की वस्तुएँ आनुपातिक दर से राजकोष के लिए भेजनी पड़ती थी। चल और अचल दोनों प्रकार की संपत्ति होती थी, परंतु भूमि पर सल्तनत का अधिकार होता था। दास-दासियों को चल संपत्ति में गिना जाता था और उनका भी क्रय विक्रय होता था। राजशोषण और प्रकृति प्रकोप से प्रजा की कमर टूटी हुई थी। उन्हें प्राकृतिक विपदाओं के समय में भी राज्य की ओर से कोई सहायता और न ही किसी प्रकार की करों में छूट ही मिलती थी। राजकोष की पूर्ति के लिए प्रजा से एकत्रित किया धन भोगविलास के लिए प्रयोग किया जाता था।[69]

समाज में अधिकांश लोग गरीब थे और किसानों एवं मजदूरों के रूप में अपनी रोज़ी-रोटी कमाते थे। धनी किसानों की संख्या बहुत कम थी। खेती करने वाले अधिकांश किसान, दिन-रात के घोर परिश्रम के बावजूद किसी तरह अपना परिवार चलाते थे। खेती योग्य भूमि की उपज के अनुपात में सरकारी लगान इतना अधिक था कि उनके लिए पूरे वर्ष का खर्च जुटा पाना कठिन था। खेती, घर-गृहस्थी, धनिकों की सुख-सुविधाओं के समान आदि से जुड़े कई प्रकार के काम थे जिनके लिए कुशल और अकुशल मजदूरों की बहुत बड़ी संख्या मौजूद थी। किसानों की तुलना में इन मजदूरों की आबादी कहीं अधिक थी।[70] इनमें कुम्हार, धोबी, नाई, बुनकर, कारीगर, लोहार, बढ़ई, जैसे लोग भी थे, जो अथक परिश्रम से अपनी रोज़ी-रोटी कमाते थे। कृषक व श्रमिक वर्ग के अलावा एक व्यापारी वर्ग था, जो व्यापार-धंधा करके अपनी जीविका चलाता था। बाजार-हाट उनकी आजीविका के प्रमुख साधन थे। कबीर स्वयं एक बुनकर थे जो बनारस के वस्त्र बाज़ार में

---

[68] त्रिपाठी, विश्वनाथ, (1999), 'कबीर : विद्रोह के मूल्य', *आजकल*, अप्रैल अंक, पृ. 10

[69] त्यागी, रुचि, पुर्वोक्त, पृ. 421

[70] प्रसाद, दिनेश्वर, पुर्वोक्त, पृ. 55-65

अपने उत्पाद को विक्रय हेतु ले जाते थे। उन्होंने आर्थिक क्षेत्र में सामंतवादी प्रवृति औए उच्च वर्ग के शोषण की कड़ी आलोचना की है। बढ़ते व्यापार ने पारंपरिक संरचना को काफी हद तक बदल दिया था। व्यापारी वर्ग/जाति बनिया भी कबीर की आलोचना से बच नहीं पाए है। कबीर हर दिन के सौदों के दौरान जो कुछ अवलोकन करते थे, उनके आधार पर ही उन्होंने उपर्युक्त वर्णन किया। कबीर ने जाति की संरचना को पार करके अपना ध्यान वर्गीय संरचना पर केंद्रित किया था।

कबीर के समय में व्यापार के विस्तार के कारण व्यापार से जुडी जातियों की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन आ रहा था। वर्णाश्रम व्यवस्था अप्रासंगिक हो रही थी। दसवीं सदी के बाद से, भारत में आर्थिक जीवन का पुनरोदय होता दिखता है, लेकिन देश की राजनीतिक स्थिति और व्यापार की संभावनाओ में अंतर्विरोध था। रामशरण शर्मा इस स्थिति को 'दो भिन्न वास्तविकताओं के रंग में रंगा चित्र' कहते हुए बताते हैं, "इस चित्र में एक तरफ उपसामंतीकरण है, परजीवी पुरोहित व्यापार और शिल्प-उद्योग से प्राप्त आय हड़पने का प्रयत्न कर रहे हैं, दूसरी ओर आय के नगद अनुमान, बेगार का लोप और मुद्रा का व्यापक प्रचलन जैसे लक्षण दिख रहे हैं।[71] व्यापारियों व दस्तकारों की आर्थिक ताक़त और सामाजिक हैसियत बढ़ रही थी। नगर विकसित हो रहे थे, भक्ति का लोकवृत प्रभावी भूमिका निभा रहा था। कबीर और उनके जैसे अन्य के आत्मविश्वास का संरचनात्मक कारण यही था कि चंद ब्राह्मण और मौलवी जो भी कहते रहें, कबीर जैसे लोग उस वक्त हाशिये की आवाज़ नहीं बल्कि समाज के महत्वपूर्ण तबकों, व्यापारियों और दस्तकारों की आवाज़ बन चुके थे। कबीर का आत्मविश्वास केवल उनकी संवेदना का ही नहीं, ऐतिहासिक विकास का भी परिणाम था। सामंती मनमानी के विरुद्ध 'न्यायसंगत व्यवहार' की माँग का सीधा संबंध कामगारों, दस्तकारों और व्यपारी वर्ग के सामाजिक अनुभवों व आकांक्षाओं से जुड़ती थी। इसी कारण परजीवियों द्वारा उत्पीड़ित ये निर्गुण संत इनके बीच पूजने की हद तक लोकप्रिय हुए।[72]

कबीर समान रूप से ज़मीदारी प्रथा का विरोध करते थे। हिंदू और मुस्लिम दोनों इस कुलीन संरचना का हिस्सा थे और इस व्यवस्था को बढ़ावा देते थे। इसी तरह हिंदू और मुसलमान दोनों में ही गरीब वर्ग थे, जो धार्मिक मतभेदों के बावजूद उपनिवेशवादिता का शिकार थे। कबीर उनकी दशा पर भी अवलोकन करते हैं, क्योंकि अधिकांश जनता ग्रामीण और कृषि कार्य से जुड़ी थी और वे अधिशेष निकासी का स्रोत भी थे, इसलिए यह स्वाभाविक था कि कबीर जैसे विचारक अपनी आवाज में इनके सामाजिक और राजनीतिक स्थिति को प्रतिबिंबित करें।

---

[71] शर्मा, रामशरण, (1973), *भारतीय सामंतवाद*, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. 269

[72] अग्रवाल, पुरूषोत्तम, (2009), *अकथ कहानी प्रेम की : कबीर की कविता और उनका समय*, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. 73-74

अपने बेगमपुरा की अवधारणा में कबीर ने इन वर्गों के इस प्राथमिक सामाजिक विरोधाभास को व्यक्त किया।

आर्थिक वितरण की विषमता संत कबीर की वाणी में भरपूर झलकती है। राजशोषण, भोग-विलास की प्रवृत्ति, अनुचित कर प्रणाली, प्राकृतिक प्रकोप, विदेशी लुटेरे, वर्ण-धर्म का भेद, समान अवसर का अभाव, गुलाम प्रथा आदि आर्थिक विषमता के कारण कहे जा सकते हैं। कबीर ने इन परिस्थितियों को सूक्ष्मता से देखा था। उनका लक्ष्य तत्कालीन समाज को सुधारना था जो विषमता के निवारण के बिना संभव नहीं था। स्वयं अभावग्रस्त कबीर ने पीड़ित, दलित, शोषित लोगों की कराहों को सुना और अपनी वाणी के द्वारा समाज के सामने प्रस्तुत किया।

कबीर की अभिव्यक्तियों से ऐसा प्रतीत होता है कि आर्थिक विषमता दूर करने के लिए, दीन हीन की जरूरतों को पूरा करने के लिए और सामाजिक सौहार्द को बनाए रखने के लिए कबीर कुलीन, संभ्रांत व संपन्न वर्ग को सहृदयी बनने का संदेश दे रहे थे। यहाँ गांधी की अवधारणा की एक सांकेतिक झलक दिखाई पड़ती है। एक ओर कबीर अभिमान, भोग, क्रूरता की भावनाओं को विजित करने के लिए क्षणभंगुर जीवन और सर्वव्यापी सृजनकर्ता ईश्वर के प्रति समर्पण का संदेश दे रहे थे। दूसरी ओर किसी आर्थिक-सामाजिक पुनर्संगठन की चेष्टा के स्थान पर वे दीन के रचयिता निराकार ईश्वर से हर मानस की बुनियादी आवश्यकताओं, भोजन, वस्त्र आदि की पूर्ति के लिए याचना करते प्रतीत होते हैं। कबीर न तो मार्क्स की तरह क्रांतिकारी समाजवादी थे जो साधनों का पुनर्वितरण चाहते थे और न ही गांधी की तरह अपनी संपत्ति को ट्रस्टी की तरह इस्तेमाल करने की प्रेरणा देते थे और न ही भूदान व ग्रामदान की बात करते थे। सादा जीवन उच्च विचार की परंपरा में केवल न्यूनतम बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति की कामना करते थे। कबीर की धारणा थी कि धन, वैभव और अधिकार के अहंकार आदमी को भगवान से दूर ले जाते हैं, व्यक्ति और व्यक्ति बीच दूरी बढ़ाते हैं। इसलिए जीवन जीने के लिए जितना आवश्यक हो मनुष्य को उतने ही धन की कामना करनी चाहिए। कबीर विप्लव व विद्रोह की बात नहीं करते और न ही किसी के सामने हाथ पसारने की सलाह देते हैं क्योंकि 'मांगन मरण समान है'। वे ईश्वर पर भरोसा रखते हुए परिश्रम और ईमानदारी से जीवन जीने की सलाह देते हैं।[73]

समाज के सबसे कमजोर एवं सामान्य से दिखने वाले व्यक्ति के महत्व को कबीर ने भी स्वीकार किया। मानव मात्र की मूलभूत क्षमता को स्वीकार करते हुए जाति और धर्म के भेद की तरह, कबीर राजा और प्रजा, धनी और निर्धन जैसे भेद को भी अस्वीकार करते थे। उनका विचार था कि हर व्यक्ति बराबर है। सब ईश्वर के बनाए हुए हैं, इसलिए सब का मूल एवं महत्त्व एक जैसा है। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर के समय में किसान व कारीगार वर्ग

[73] त्यागी, रुचि, पुर्वोक्त, पृ. 424

संकुचित सामंती व्यवस्था के समक्ष अपना आर्थिक आधार विकसित कर रहा था और सापेक्षित स्वायत्तता एवं आत्म सम्मान की माँग कर रहा था। कबीर संभवतः इन्हीं वर्गों के अग्रदूत थे, जिन्होंने वर्ग एवं जाति के आधार पर बरते जाने वाले भेदभाव को चुनौती दी और मनुष्य व मनुष्य के बीच भेदभाव का निषेध किया।[74]

4.4.3.6. कबीर एक समन्वयवादी के रूप में

समन्वय से तात्पर्य दो या उससे अधिक विभिन्न बातों के बीच एक ऐसी समानता का प्रतिपादन करना होता है, जिसके कारण उनमें पारस्परिक विरोध का अभाव सूचित होने लगे और वास्तविक एकता भी सिद्ध की जा सके। कबीर के समय (15वीं शताब्दी में) भारत में इस्लाम और हिंदू धर्म के बीच संघर्ष चल रहा था। दोनों जातियों के मतों में सैद्धांतिक भेद लक्षित होता था और दोनों के वाह्याचरणों में आकाश पाताल का अंतर दिखता था। मुसलमानों का कथन था कि हमारा ही एकमात्र सच्चा धर्म है और उसके अनुयायियों द्वारा इसका प्रचार होना आवश्यक है। वहीं हिंदुओं की धारणा थी कि हमारा धर्म सनातन है और इसका त्याग करना किसी भी प्रकार श्रेयस्कर नहीं होगा।

उक्त प्रकार का धार्मिक मतभेद केवल हिंदुओं और मुसलमानों की मूल विचारधाराओं तक ही सीमित नहीं था, बल्कि उनके भीतर विभिन्न प्रकार के संप्रदायों एवं 'फ़िरकों' की भी प्रवृतियाँ काम कर रही थीं और एक वृक्ष की अनेक शाखाओं के समान बढ़ती जा रही थी। हिंदुओं में शैव, शाक्त, वैष्णव जैसे कई संप्रदाय विभिन्न देवताओं को इष्ट मानकर बन गए थे। योगी, संन्यासी जैसे अनेक वेशधारियों के वर्ग अपने-अपने ढ़ंग का प्रचार कर रहे थे और ऐसे पंथ भी अनेक वर्गों में विभक्त होते जा रहे थे। इन सभी के बीच ऐसी खाइयाँ बनती जा रही थी, जिनका दिनोंदिन चौड़ी होती जाना अनिवार्य-सा प्रतीत होता था। इसी प्रकार मुसलमानों के भीतर भी कई प्रकार के पारस्परिक भेद बढ़ते जा रहे थे। उनके धर्म प्रचारक पीरों, औलियाओं आदि का देहांत होते ही उनके सम्मान में मेले और उत्सव होने लगते और उनके नाम पर विभिन्न फ़िरकों की परंपरा चल पड़ती। ऐसे में विभिन्न मतों व पंथों के बीच कटुता और धर्मांधता की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिल रहा था। यह किसी भी प्रकार से हितकर नहीं था न इसके कारण देश में कभी शांति और एकता का कोई स्वप्न देखा जा सकता था।[75]

उस समय की उपर्युक्त धार्मिक मनोवृत्ति का प्रभाव लोगों के सामाजिक संगठन के विभिन्न पहलुओं पर भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है। हिंदुओं में प्रचलित वर्ण व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र नामक चार जातियाँ प्रधान थी, किंतु कालांतर में इनके भी कई उपभेद उत्पन्न हो गए और प्रत्येक दूसरे को अपने से नितांत भिन्न मानने लगा। इतना ही नहीं

[74] वही, पृ. 426

[75] परशुराम, चतुर्वेदी, (1964), कबीर साहित्य की परख, इलाहबाद : भारती भंडार लीडर प्रेस, पृ.116-115

ऐसी जातियों और उपजातियों के विभाजन के साथ ही छुआछूत, ऊँच-नीच के भेदभाव हिंदू समाज की सामाजिक व्यवस्था का अंग बन चुके थे। मुसलमानों के भीतर भी शेख, सैय्यद, मोमिन, पठान आदि नाम के वर्ग बन गए थे, जो परस्पर एक दूसरे को निम्न मानते थे। यद्यपि इनके बीच पृथकता का भाव अस्पृश्यता की हद तक नहीं पहुँचा था, फिर भी एक दूसरे को निम्न समझकर उनके प्रति अश्रद्धा प्रदर्शित करना एक साधारण-सी बात थी।[76] इसकी वजह से समाज में भेदभाव और वैमनस्य बढ़ रहा था। ऐसे में कबीर ने मानव जीवन की अंतर्निहित एकता को चित्रित करने का प्रयास किया। कबीर का मानना था कि सभी मनुष्य एक ही मानव समाज के अंग हैं। एक विशाल वृक्ष की विभिन्न शाखाओं के समान है सबके मूल की ओर दृष्टि डालने पर उनमें कोई अंतर नहीं दिखता, न इस कारण उसमें एक दूसरे को पृथक या उच्च व निम्न समझने का कोई आधार ही लक्षित होता है।[77]

कबीर के सामाजिक कवित्त, मनोवैज्ञानिक तर्क, जन्म व मृत्यु के आलेख, आध्यात्मिक, दार्शनिक, वैचारिक कविताएँ अलग-अलग श्रेणियों व वर्गों को नहीं बल्कि उस ईमानदार सैद्धांतिक एकता को दर्शाते हैं जो कि देह, मस्तिष्क, व्यक्ति, मंदिर व बाजार सब पर समान रूप से लागू होती है। कबीर समस्त सृष्टि में एक परमात्मा को देखते हैं, एक ही शक्ति को देखते हैं। उनका मानना है कि पवन, पानी, ज्योति, धरती और आकाश, इन पाँच तत्वों में एक ही परम शक्ति समाई हुई है। उनका मानना है कि धर्म असीम है, अस्तित्व अखंड है, मनुष्य ही उसे खंड-खंड में अनुभव करता है, क्योंकि उसके पास खंडित हृदय होता है। अखंड का अनुभव करने के लिए अखंड या शून्य हृदय चाहिए, जिससे अखंड व शुद्ध का दर्शन हो सके।[78] कबीर व्यक्ति के विवेक को जागृत कर उसे चेतनाशील बनाना चाहते थे, ताकि वह क्रमशः ब्रह्म की अनुभूति कर ब्रह्म की चेतना की ओर अग्रसर हो सके। कबीर कहते हैं कि हमें बाह्य आडंबरों एवं ढकोसलों की जगह अपने अंतर्मन में विद्यमान ब्रहम को पहचानने की कोशिश करनी चाहिए। इस दृष्टि से कबीर सचेतन एवं जागृत व्यक्ति की बात करते हैं। कबीर के समन्वयवाद का सार यह है कि व्यक्ति को सद्गुणों की ओर अग्रसर होना चाहिए और उन्हें पाने के लिए वह सतगुरु एवं सत्संग के आश्रय को अनिवार्य मानते है।[79]

सिंह एवं हैस कबीर को समन्वयवादी नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि कबीर ने देश की दोनों प्रमुख धार्मिक परंपराओं से स्वयं को मुक्त घोषित किया है। दोनों धर्मों की रूढ़ियों पर प्रहार किया और अपने अनुयायियों को पूर्ण स्वायत्तता एवं भिन्नता के साथ उनका विरोध करने

---

[76] परशुराम, चतुर्वेदी, पुर्वोक्त, पृ. 116

[77] वही, पृ. 119

[78] त्यागी, रुचि, पुर्वोक्त, पृ. 440

[79] वही, पृ. 442

के लिए प्रेरित किया।[80] लेकिन वास्तविकता यह है कि कबीर ने दोनों प्रमुख धर्मों की रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों का विरोध किया और सभी धर्मों का निचोड़ एक ही मानते हुए कबीर ने संदेश दिया कि ईश्वर और अल्लाह दोनों एक है। कबीर को समन्वयवादी न मानकर एक एकात्मवादी मानते हुए बलदेव वंशी का कहना है कि कबीर का सारा आग्रह धर्म व मज़हब के बारें बाहरी प्रतीकों की अपेक्षा आत्मशुद्धि एवं आचरणशुद्धि पर है। मोटे तौर पर, जैसे पहने हुए बाहरी वस्त्रों की भिन्नता कपड़े के रंगों, काट या डिज़ाइन, आकार या प्रकार आदि कई तरह की होती हैं, किंतु उन पहने हुए कपड़ों के नीचे चमड़ी की भिन्नता अपेक्षतया कम होती हैं। चमड़ी के नीचे, देह के भीतर मानसिक वृत्तियों में तो उससे भी कम भिन्नता पाई जाती है। रोना, हँसना, प्यार, घृणा के मूल भावों में सब एक समान है, केवल उन्हे प्रकट करने के हावभाव स्थान या स्थिति की भिन्नता के कारण पृथक हो सकता हैं। अंततः अपने स्तर पर सब एक अभिन्न धरातल पर आ खड़े होते हैं। इसी आंतरिक धरातल पर चारित्रिक शुद्धि पर बल देने से जातिगत व मज़हबी विभिन्नताएँ समाप्त हो जाती हैं। कबीर भी जातीय और मज़हबी ऊँच-नीच व कट्टरता का पूर्ण विरोध करते हुए मतवादों में समन्वय लाने का प्रयत्न ही नहीं करते बल्कि मानव की आत्मवादी धरातल पर एकता या एकात्मकता को भी सिद्ध करते हैं। वह मनुष्य को सहज और महज़ मनुष्य के रूप में देखना पसंद करते हैं।[81]

कबीर समाज को एकात्म रूप में देखते हैं। कबीर के समाज में नाना प्रकार के भेद थे और वे उन्हीं भेदों को मिटाना चाहते थे। उनका मानना था कि यह भेद क्षणभंगुर है, इनमें स्थायित्व नहीं है। ऊँच-नीच, धनी व निर्धन, स्वामी व सेवक, राजा व रंक सभी भेद तात्कालिक थे। इन भेदों को बनाने वाले और मानने वाले अपनी समय सीमा में जीकर मर गए। परंतु कबीर की दृष्टि में मानवता, समाज, आत्मा व जीव की स्थिति अमर है। यहाँ निश्चित रूप से कह सकते हैं कि भिन्न-भिन्न एवं परस्पर विरोधी विचारों का सम्मिश्रण समन्वयवाद का आधार है। इस दृष्टि से कबीर ने राजा व प्रजा, धनी व निर्धन, उच्च व निम्न जातियों, हिंदू और मुसलमानों के बीच की खाई को पाटने का काम किया। आपस में द्वेष, ईर्ष्या, अहंकार, वैमनस्य व क्षोभ आदि के स्थान पर कबीर ने समानता, स्नेह, सहानुभूति व सहयोग का संदेश दिया और मानव मात्र को एक दूसरे के लिए जीने का रास्ता दिखाया। इस दृष्टि से कबीर एक समन्वयवादी विचारक के रूप में उभरते हैं।

4.4.3.7. कबीर का मूल्यांकन

कबीर को युग परिवर्तनकारी विचारक व सामाजिक क्रांति के प्रणेता के रूप में जाना जाता है। उन्हें धार्मिक जागरण का अग्रदूत भी कहा जाता है। कबीर ने अपनी प्रभावी विचारधारा

[80] सिंह, सुखदेव एवं हैंस, लिंडा, पुर्वोक्त, पृ. 5

[81] त्यागी, रुचि, पुर्वोक्त, पृ. 443

से मध्ययुग में सोए हुए भारत को जगाया। वैचारिक सोच व चिंतन के नए आयामों के द्वारा नवचेतना का मंत्रघोष किया। अपनी वैचारिक संपदा के कारण संतमत में कबीर का एक प्रमुख स्थान है। निसंदेह वे एक युग निर्माता, धर्म प्रवर्तक और सामाजिक क्रांति के अग्रणी महापुरूष है।

कबीर ने समाज में जो विकृतियाँ देखी उन का निडरता से पर्दाफाश किया। उनसे समाज की विकृति और पतनावस्था सहन नहीं की गई। इसलिए इन सारे दोषों, विकृतियों, कुप्रथाओं, बाह्य आचरणों, आडंबरों, दुष्कर्मों से निवृत्ति और ऊँच-नीच की भावनाओं आदि के लिए कबीर ने बड़े आत्मविश्वास और दृढ़ता के साथ तात्कालिक समाज को सहज भक्ति का अमृतपान कराया। हिंदू व मुसलमान दोनों ही को वे तरह-तरह से समझाते हैं। कबीर ने अपने समय पर जाति व्यवस्था पर कड़े प्रहार किए। वर्ण व्यवस्था को वे देश की प्रगति व समाज की एकता में बाधक मानते थे। ऊँच-नीच व जातिगत श्रेष्टता की भावना को उन्होंने कभी प्रश्रय नहीं दिया। पूरी उम्र वे ब्राह्मणवाद, मुस्लिम कट्टरता और धार्मिक अंधविश्वासों से लड़ते रहे। उन्होंने अपने व्यवसाय को कभी भी हीन नहीं माना और न ही कभी किसी के सामने झुके। उन्होनें सिद्ध कर दिखाया कि कोई भी शिल्प, दस्तकारी छोटी नहीं है, मेहनत से कर्म करने को वे श्रेयस्कर मानते थे। कर्म की प्रधानता को उन्होंने स्वीकार किया। पण्डे-पुजारी और मुल्ला- मौलवी जो धर्म की आड़ में लोगों को ठगते है, कबीर ने उनकी कड़ी आलोचना करके धर्म की व्यावसायिकता का भी पर्दाफ़ाश किया।[82]

कबीर जनता के मध्य से आए संत थे। उनके समकालीन संत कवियों का जीवन दर्शन भी उनसे प्रभावित था। वह जो देखते थे, सुनते थे, भोगते थे उसी को अपने अनुभवजन्य ज्ञान के सहारे जनता को बता देते थे। सरल भाषा में रचे गए और गाये गए उनके पद, भजन और साखियाँ जनजागरण का प्रमुख माध्यम बनीं। इसके आधार पर तत्कालीन समाज में चेतना आई। तरह-तरह के प्रचलित धर्म, पंथ और विचारधाराओं से आम आदमी ऊब गया था। अंधविश्वास, चमत्कार एवं विभिन्न प्रकार के बाह्य आडंबरों ने लोगों को भ्रमित कर रखा था। कबीर ने यह सारे भ्रम तोड़ दिए और उन्होंने भक्ति का सच्चा मार्ग लोगों को सुझाया। कबीर को सर्वधर्म समन्वयकारी सुधारक माना गया। उनका लोकचेतना अभियान हिंदू व मुस्लिम धर्म में व्याप्त कुरीतियों के विरुद्ध था। वे भारत की एकता के जबरदस्त समर्थक थे। समाज में समता, सामाजिक न्याय का प्रतिष्ठापना करना उनका ध्येय था। उन्होंने मानवता का बीज मंत्र उद्घोषित किया।[43]

कबीर अपने समय के क्रांतिकारी विचारक थे ,उन्होंने न केवल सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में अपने विचार दिए, बल्कि राजनीतिक क्षेत्र में भी उनका विचार अत्यंत ही क्रांतिकारी था।

[82] चंचरीक, कन्हैयालाल, पुर्वोक्त, पृ. 53

एक आदर्श राज्य व्यवस्था के रूप में बेगमपुरा की अवधारणा में उन्होंने हर प्रकार की राजशाही को नकारते हुए राजा के दैवी अवतार के विचार का खंडन किया। इसके अतिरिक्त कबीर ने अभिजात तंत्रीय व्यवस्था का भी विरोध किया और उसकी जगह जनसंप्रभुता की अवधारणा को आगे बढ़ाया। कबीर लगातार अभिजात वर्गीय प्राधान्यता और उसके द्वारा उत्पन्न भेदभाव एवं शोषण को समाप्त करने की बात करते हैं। उन्होंने जो सामाजिक एवं सांस्कृतिक मुक्ति आंदोलन का उद्घोष किया और जिस यूटोपिया को प्रस्तुत किया, उसके द्वारा उन्होंने अपने समय की एक वैकल्पिक राजनीतिक विचारधारा को भी प्रस्तुत किया। यही कारण है कि टैगोर उन्हें 'मुक्तिदूत और उनकी कविताओं को 'चिर आधुनिक कहकर संबोधित करते हैं।[83]

4.4.4. पाठसार/ सारांश

कबीर को मध्युगीन भक्ति कवियों में सर्वाधिक निर्भीक और विद्रोही विचारक के रूप में स्मरण किया जा सकता है। कबीर अपने युग के पाखंड, भ्रष्टाचार, अनीति और आडंबरों का खुलकर विरोध करते हैं। वे धार्मिक एवं जातीय संक्रीर्णता से ऊपर उठकर मनुष्य मात्र की समानता एवं स्वतंत्रता की वकालत करते हैं। आमतौर से कबीर को संत एवं कवि के रूप में ही उद्धृत किया जाता रहा है। ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से कबीर की चर्चा बहुतायत हुई है परंतु कबीर के राजनीतिक दर्शन पर उतनी विस्तृत चर्चा नहीं हो पाई है। जबकि कबीर ने बेगमपुरा की अवधारणा के रूप में एक आदर्श राज्य व समाज व्यवस्था पर गंभीर विचार दिए है। कबीर के लिए भक्ति केवल अध्यात्मिक अवधारणा नहीं है, बल्कि उनके लिए भक्ति स्थापित राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था के विरोध में एक वैकल्पिक मार्ग प्रस्तुत करती है। कबीर इसी भक्ति और भक्तों के द्वारा एक ऐसे समाज व राज्य का निर्माण करना चाहते है जहाँ किसी प्रकार की असमानता, शोषण, भेदभाव एवं अन्याय नहीं होगा। बेगमपुरा ऐसी ही अवस्था का चित्रण है, जो लोककल्याण, समानता, स्वतंत्रता और न्याय पर आधारित होगा, प्रत्येक व्यक्ति को मनुष्य के रूप में अपने सर्वोच्च विकास को प्राप्त करने का अवसर प्राप्त होगा। जो समन्वय एवं सहयोग के सिद्धांत से संचालित होगा।

4.4.5. अभ्यास/बोध प्रश्न

4.4.5.1. बहुविकल्पीय प्रश्न

1. **कबीर को किस सुल्तान का समकालीन माना जाता है?**
   (अ) सिकंदर लोदी **(ब)** मुहम्मद बिन तुगलक़
   (स) अल्लाउद्दीन खिलज़ी **(द)** फ़िरोज़ तुगलक़
2. **इनमें से कौन-सी रचना कबीर की है?**
   (अ) बीजक **(ब)** पंचवाणी

[83] टैगोर ,(2007) रबिन्द्रनाथ ,पोयम्स ऑफ़ कबीररूपा पब्लिकेशन्स : नई दिल्ली ,

(स) अ और ब दोनों **(द)** इनमें से कोई नहीं

3. **कबीर की मृत्यु कहाँ हुई?**

(अ) काशी **(ब)** मगहर

(स) रतनपुर **(द)** पुरी

4. **कबीर अपने आदर्श राज्य को क्या संज्ञा देते हैं?**

(अ) रामराज्य **(ब)** बेगमपुरा

(स) प्रेमपुरा **(द)** इनमे से कोई नहीं

5. **कौन कबीर को समन्यवादी विचारक नहीं मानते है?**

(अ) सुखदेव सिंह व लिंडा हैस **(ब)** आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

(स) गेल ऑमवेट **(द)** इनमें से कोई नहीं

4.4.5.2. लघु उत्तरीय प्रश्न

1. कबीर की रचनाओं पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
2. कबीर के समय भारतीय समाज की दशा पर प्रकाश डालिए।
3. धार्मिक भेदभाव व कट्टरता के विरोधी के रूप में कबीर के विचारों की व्याख्या कीजिए?
4. आर्थिक विषमता को समाप्त करने के लिए कबीर क्या सुझाव देते हैं?
5. बेगमपुरा की अवधारणा को समझाइए।

4.4.5.3. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. कबीर के राजनीतिक विचारों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
2. आर्थिक व्यवस्था पर कबीर के विचारों का विश्लेषण कीजिए।
3. सामाजिक व्यवस्था पर कबीर के विचारों का परीक्षण कीजिए।
4. 'समन्वय का संदेश कबीर के व्यक्तित्व का सार है'। इस कथन के प्रकाश में समन्वयवादी विचारक के रूप में कबीर का मूल्यांकन कीजिए।
5. मध्यकालीन चिंतन में कबीर के योगदान का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

4.4.6. संदर्भ ग्रंथ सूची

01. अग्रवाल, पुरूषोत्तम, (2009), अकथ कहानी प्रेम की : कबीर की कविता और उनका समय, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन

02. ऑमवेट, गेल, (2008), सीकिंग बेगमपुरा : द सोशल विज़न ऑफ़ एंटी-कास्ट इंटेलेक्चुअल, दिल्ली, नारायण पब्लिकेशन्स

03. गुप्ता, सरोज, (2002), समानता के उद्घोषक, सुरेश आचार्य (सं.), कबीर : हंसा कहौ पुरातन बात, सागर : अमन प्रकाशन
04. चंचरीक, कन्हैयालाल, (1999), महात्मा कबीर : जीवन और दर्शन, नई दिल्ली, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन
05. चौहान, शिवदन सिंह, (1978), कबीर का युग, दिल्ली, पब्लिकेशन्स डिवीज़न, भारत सरकार
06. टैगोर, रबिन्द्रनाथ, (2007), पोयम्स ऑफ़ कबीर, नई दिल्ली, रूपा पब्लिकेशन्स
07. त्यागी, रूचि, (2016), 'कबीर : एक समन्वयवादी विचारक के रूप में', रूचि त्यागी (सं.) *प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत का राजनीतिक चिंतन : प्रमुख परंपराएँ एवं चिंतक*, दिल्ली, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय
08. त्रिपाठी, विश्वनाथ, (1999), कबीर : विद्रोह के मूल्य, आजकल, अप्रैल अंक
09. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, (2000), कबीर, नई दिल्ली, राज कमल प्रकाशन
10. परशुराम, चतुर्वेदी, (1964), कबीर साहित्य की परख, इलाहबाद, भारती भंडार लीडर प्रेस
11. प्रसाद, दिनेश्वर (2001), 'कबीर की समाज दृष्टि', राजकिशोर (सं.), *कबीर की खोज*, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन
12. भारती, कँवल (2017), 'कबीर के निर्गुणवाद से प्रभावित थे डॉ अम्बेडकर', *फॉरवर्ड प्रेस*, ऑनलाइन मैगज़ीन, 1 जुलाई, www.forwardpress.in/Kabir-ke-nirgunwad-se-prabhavit-ambedkar/ से उद्धृत
13. राय, हिमांशु (2007), पोलिटिकल आइडियाज ऑफ़ कबीर, महेंद्र प्रताप सिंह एवं हिमांशु राय (सं.) इंडियन पोलिटिकल थॉट, नई दिल्ली : पियर्सन
14. राय, हिमांशु, (2015), एक्सप्लोरिंग पोलिटिकल आइडियाज ऑफ़ कबीर, फ्रंटियर, ऑटम न., वॉल्यूम 48 (2) पृ. 14-17
15. शर्मा, रामविलास (1996), *भारतीय साहित्य की भूमिका*, नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन
16. शर्मा, रामशरण (1973), *भारतीय सामंतवाद*, नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन
17. शर्मा, श्रीराम (2000), 'युगनायक कबीर का समन्वय संदेश', अखण्ड ज्योति, अंक - 2, फ़रवरी, पृ. 11-12, http://literature.awgp.org/akhandjyoti/2000/February/v2.8 से उद्धृत
18. शर्मा, सरनाम सिंह (2011), *कबीर : व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धांत (भाग-I)*, दिल्ली : कल्पना प्रकाशन

19. सिंह, नामवर (2001), 'कबीर का दुःख', राज किशोर (सं.), *कबीर की खोज*, नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन
20. सिंह, सुखदेव एवं हैंस लिंडा (2001), *द बीजक ऑफ़ कबीर*, दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड
21. सुन्दरदास, श्याम (1977), *कबीर ग्रंथावली*, काशी : नागरी प्रचारिणी सभा
22. हबीब, इरफ़ान (1978), 'इकॉनोमिक हिस्टरी ऑफ़ डेल्ही सल्तनत : एन एस्से इन इंटरप्रिटेशन', *इंडियन हिस्टोरिकल रिव्यु* IV, पृ. 297